इति दुविधा कथा



प्रीतीश आचार्य

इति दुविधा कथा

कहानी संग्रह

प्रीतीश आचार्य : जन्म - 9 मार्च 1963, गाँव - गरभना, जिला - बरगढ़, ओड़िसा। प्राथमिक शिक्षा गाँव में, बी.ए तक की पढ़ाई संबलपुर में, एम.ए. और शोधकार्य जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से।

अरुणाचल विश्वविद्यालय में 1988-1997 तक इतिहास के अध्यापक रहे। 1997 से एन.सी.ई.आर.टी में अध्यापक। बीच में कुछ दिन राष्ट्रीय प्रतिरक्षा अकादमी में अध्यापन किया। 2008 से एन.सी.ई.आर.टी के रिजनल इंस्टिच्यूट आफ एजुकेशन, भुवनेश्वर में एसोसिएट प्रोफेसर।

ओड़िया में प्रकाशित कहानी संग्रह : पौश पाहिले जाई (1980), आत्मलिपि (1989), पात्रे अन्वेषण (2001)।
निबंध संग्रह : अपर्निंदा उपाख्यान (2004), इतिहासेर समीक्षा (2008)
अंग्रेजी में : नेशनल मुवमेंट एंड पॉलिटिक्स इन ओड़िसा : 1920-29
नेशनल बुक ट्रस्ट के लिए गोपबंधु चयनिका का संपादन।
हिंदी में अनुवाद होकर कुछ कहानियाँ जनसत्ता, दैनिक हिंदुस्तान, वागर्थ, समकालीन भारतीय साहित्य में प्रकाशित।

इति दुविधा कथा

प्रीतीश आचार्य



रोशनाई प्रकाशन
काँचरापाड़ा, पश्चिम बंगाल

ISBN 978-81-88742-31-8

मूल्य : 100 रुपए

पहला संस्करण : जुलाई 2011

प्रकाशक

रोशनाई प्रकाशन
212 सी० एल०/ए, अशोक मित्र रोड
काँचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, पश्चिम बंगाल।
पिन : 743145. फोन : 033-25850249
e-mail : roshnaiprakashan@sify.com

मुद्रक : जयश्री प्रेस, 91/1B, बैठकखाना रोड, कोलकाता–700 009

Collection of Short Stories by Pritish Acharya

प्रकाशकीय

ओडिया कथाकार प्रीतीश आचार्य की कहानियों के तीन संग्रह ओड़िया में प्रकाशित हैं। उनकी कुछ कहानियों का हिंदी अनुवाद पत्र-पत्रिकाओं में छपता रहा है। हिंदी अनुवाद में यह संग्रह उनके किसी एक कहानी-संग्रह का अनुवाद नहीं बल्कि उनकी चुनिंदा कहानियों का एक संकलन है।

यह संग्रह तैयार करते समय कई लोगों के किए अनुवाद का थोड़ा-बहुत संपादन किया गया और उसी क्रम में लेखक की सहमति से कुछ कहानियों के शीर्षक बदल दिए गए। कहानियाँ जिनके शीर्षक बदले गए उनमें से तीन का यहाँ उल्लेख करना इसलिए जरूरी लग रहा है कि वे तीनों दूसरे शीर्षक से हिंदी में प्रकाशित हो चुकी हैं। 'वागर्थ' में 'आतिथ्य' नाम से प्रकाशित कहानी इस संग्रह में 'बेटी' नाम से छपी है, 'जनसत्ता' में छपी 'अनुचिंता' यहाँ 'रविवार की सुबह' और 'आत्मलिपि' नाम से छपी कहानी 'टिफिन का डिब्बा' नाम से छप रही हैं।

अनुक्रम

बेटी

रसानंदबाबू को अपने पर गुस्सा आ रहा था। मिस्त्री की बात मान ली होती तो यह दुर्दशा नहीं होती। कल जब साइकिल में हवा भरवाने गए थे तब उसने कहा था– "जल्द ही टायर बदलवा दीजिए।" एक ही दिन में उसकी बात सच निकली, तेज आवाज के साथ ट्यूब फट गया। कम से कम सुबह घर से निकलते समय फटा होता तो साइकिल ठीक करके निकलते या फिर निकलते ही नहीं। अब क्या करें? उनकी नजर कलाई पर बँधी घड़ी पर पड़ी, सोचने लगे ग्यारह बज रहे हैं, यहाँ से पदमपुर साइकिल से जाओ तो पूरा एक घंटा। पैदल चलो तो तीन घंटे से कम नहीं लगेंगे। ऊपर से साइकिल ठेलना होगा। जब विपदा उपस्थित होती है तो जाने क्यों धूप का प्रकोप बढ़ जाता है और दूरी भी। सारी स्थिति की कल्पना करते हुए रसानंदबाबू के पाँव थम से गए। प्यास के मारे गला सूखने लगा।

रसानंदबाबू ने पीछे मुड़कर देखा– एक औरत चली आ रही है। उसकी चाल से उन्हें लगा मानो वह उन तक पहुँचना चाहती हो। खेत से लौट रही है, पति के लिए नाश्ता लेकर गई थी। वहीं कुछ देर पति के साथ काम किया होगा और अब लौट रही है। पति से पहले उसे घर पहुँचना होगा। भात भी बनाना है, बच्चे इंतजार कर रहे होंगे। औरत के सिर पर एक परात थी जिस पर पलाश के कुछ पत्ते, दो-चार खजूर के दातुन, साथ में मुट्ठी भर जलावन की लकड़ी जो चूल्हा जलाने के काम आएगी। उस औरत के साथ बिना कोई बात किए रसानंद बाबू ने यह सब अनुमान लगा लिया। अनुमान लगाते हुए उनके चेहरे पर एक क्षीण मुस्कुराहट दौड़ गई। मुस्कुराहट ने उनका कष्ट कुछ कम कर दिया। जासूसी उपन्यास में इसी तरह जासूस कई बातें जान लेता है, बिना कुछ पूछे, पहली मुलाकात में ही, किसी ज्योतिषी की तरह। बचपन में उन्होंने बहुत सारे जासूसी उपन्यास पढ़े थे। मन में दबी हुई इच्छा भी थी जासूस

बनने की। क्या पता मौका मिलता तो शायद बन भी गए होते। फोन पर फोन करते। हुक्म तामील करने के लिए हमेशा सहायक मौजूद रहते।

लेकिन पता नहीं, क्या सोचकर वे मलेरिया विभाग में घुस गए। धेले भर की आमदनी नहीं। महीने भर तनख्वाह का इंतजार करो, कर्ज चुकाओ। उस पर रोज दस-बीस मील की साइकिल यात्रा और रास्ता भी ऐसा कि साइकिल का एक पंचर बनवाने के लिए कोई मिस्त्री न मिले। इतना सब सोच चुके थे रसानंद बाबू कि वह औरत उनके बराबर में चलते दिखाई दी। "माँ, तुम्हारे गाँव में कोई साइकिल की दुकान तो नहीं है?" रसानंदबाबू को पता है, आस-पास कोई साइकिल की दुकान नहीं है। कुछ दिन पहले किसी ने बताया था, साइकिल का बालबेरिंग किसी ने अपनी स्वदेशी बुद्धि से ग्रीज के बदले गुड़ाखू लगाकर सेट किया था। सुनकर रसानंदबाबू भी खूब हँसे थे। आज उन्हें लग रहा था साइकिल का पंचर सुधारने का ऐसा ही कुछ स्वदेशी उपाय होता तो इस प्राणांतक धूप से छुटकारा मिल जाता। "न इस गाँव में तो कोई नहीं है। सीधे पदमपुर जाना पड़ेगा।" कहते हुए उस औरत ने रसानंदबाबू का सपना तोड़ा और पूछा-- "तुम्हें कहाँ तक जाना है, काका।" उसकी बातों से लगा वह रसानंदबाबू की विपदा से दुखी है। कोई बीस-बाईस साल की उम्र होगी उस औरत की, रसानंदबाबू की छोटी बेटी के बराबर। शादी को चार-पाँच साल हो गए होंगे, उसके एक-दो बच्चे भी हो चुके होंगे। 'माँ' के बदले बेटी संबोधित किया जाता तो शायद ज्यादा फबता। पर, एक लड़की अपने जन्म से मृत्यु तक माँ ही तो रहती है। शादी से पहले मां-बाप-भाई की सेवा, शादी के बाद पति-पुत्र की सेवा और बुढ़ापे में नाती-नातिन की सेवा। बिना किसी प्रति-उपकार के सारा जीवन सेवा करना ही मानो उसका धर्म है। माँ के अलावा कौन करेगा इतनी सेवा? बदले में उसे मिलता क्या है। बेचारी तरसती रहती है पूरी जिंदगी दो टूक स्नेह और संबोधन के लिए। यहाँ मिलेगा। न, न यहाँ नहीं, वहाँ। या फिर और कहीं। इसी तरह के विचारों से रसानंदबाबू का मन करुणा से द्रवीभुत हो गया। वे आत्मसमीक्षा करने लगे। खुद उन्होंने भी क्या दिया है, वह स्नेह और श्रद्धा भरा संबोधन।

"काका! पदमपुर तक जाओगे?" पहले प्रश्न का जवाब न मिलने पर औरत ने एक बार फिर पूछा। "हाँ, माँ!" इतना कहने के बाद रसानंदबाबू का मन आत्मदया से भर गया। उन्हें लगा जैसे आँखों से आँसू निकल आएँगे। भरी धूप में साइकिल घसीटते-घसीटते वे अब पदमपुर तक

जाएँगे। बचपन में शरीर पर कहीं चोट आने पर, माँ के सहलाने के बाद जैसे वे रोया करते थे, आज न चाहते हुए भी उन्हें वैसे ही रोने का मन करने लगा। इतने में औरत पूछ बैठी– "क्या तुम पदमपुर में नौकरी करते हो काका, तुम्हारा अपना घर कहाँ है?"

"बुटोमाल!" रसानंदबाबू ने कहा।

"घेंसबुटोमाल।"

"हाँ।"

"मेरी भाभी भी तो बुटोमाल की बेटी है। तुम जानते होगे। झांकर घर की। केतकी। उसकी और मेरी एक ही लगन में शादी हुई थी। इस आषाढ़ को चार साल हो जाएँगे।" लड़की जैसे संबंध जोड़ने के लिए उतावली हो रही थी। अपनी बेटी की उम्र में रखने के बाद रसानंदबाबू को वह औरत एक छोटी बच्ची से ज्यादा बड़ी नहीं लग रही थी। एक बातूनी, बार-बार सवाल करनेवाली, जो जवाब न मिलने तक चुप न रहती हो। तीन-चार साल की छोटी सी लड़की।

"अच्छा, अच्छा, कहीं तू समारू की बेटी की बात तो नहीं कर रही है? वह जो तालपाली में ब्याही है। चार लड़कों में एक लड़की। अच्छी लड़की है।" रसानंदबाबू ने कहा।

अब रसानंदबाबू और लड़की बराबर साथ-साथ चल रहे थे। दोनों में बातचीत का विषय था-- केतकी और उसका बाप समारू। बाप के मरने के बाद पाँचवी कक्षा में समारू की पढ़ाई छूट गई। रसानंदबाबू का यजमान है उसका परिवार। गाँव छोड़ने के साथ-साथ रसानंदबाबू का यजमानी से भी नाता छूट गया। अब ये सब काम चाचा के लड़के देखते हैं। पर अपनी बेटी की शादी में समारू नहीं माना, "पंडित, चार बेटों में एक ही बिटिया है। तू जब तक पोथी नहीं पढ़ेगा, उसकी शादी नहीं होगी।" रसानंदबाबू शादी में पदमपुर से आए थे। जवाँई देखने में लोहे के मूसल की तरह, साँवला, सख्त, मुँह एकदम गोल, शरीर काफी गढ़ा हुआ। इन सबका जाकर पत्नी से भी जिक्र किया था। उसी लड़के की बहन है यह लड़की।

"हमारी बेटी को ठीक तरह से रखा है न तुम्हारे दादा ने?" रसानंदबाबू ने इस आग उगलती धूप में थोड़ा मजाक किया। 'लड़की' के साथ बातचीत करते हुए धूप का प्रकोप कुछ कम सा लगा। अब आ गया है उसका गाँव जहाँ वह रुक जाएगी। उसके बाद कष्ट झेलना होगा।

रसानंदबाबू ने मन ही मन आशंका की।

"काका! जब मैं तुम्हारी बेटी जैसी हूँ तो एक बात कहूँगी, तुम मना मत करना।" लड़की ने अपने गाँव का रास्ता पकड़ने से पहले कहा।

"बोलो माँ", रसानंदबाबू ने पूछा।

"तुम इस भरी धूप में मत जाओ। मेरे घर में दोपहर में रह जाओ। इतनी धूप है, क्या पता कुछ हो जाए तो?"

"न रे माँ! घर पर तेरी काकी मेरा इंतजार कर रही होगी। फिर मुझे आफिस भी जाना होगा।" रसानंदबाबू के तर्क बनावटी नहीं हैं। गरमी में जरा सी देर हो जाने पर पत्नी घर से बाहर, बाहर से अंदर होती रहती है। बेटियों की शादी के बाद बेचारी घर पर अकेली रह नहीं पाती है। सूना घर जैसे उसे खा जाता है। पर उससे भी बड़ी बात है कैसे वे किसी के यहाँ मेहमान हो जाएँ। दो मिनट तो हुए इस परिचय को। दूसरी तरफ मन कर रहा था कुछ देर रुक जाने को। इन दिनों बूढ़ों के लिए लू से बड़ा यम कोई नहीं है। प्राण रहे तो सब ठीक है। एक ओर प्रचंड धूप का प्रकोप, दूसरी ओर लड़की का स्नेह भरा निमंत्रण।

"काका! हमें तुम छोटी जात का गरीब मानते हो तो बात अलग है। नहीं तो तुमको इस भरी दोपहर में जाना नहीं चाहिए। मेरी भाभी के तुम जब काका हो तो मेरे भी तो काका हुए। मैं तुम्हारी अपनी बेटी होती तो क्या तुम इस तरह चले जाते।" लड़की की बातों में आत्मीयता थी, साथ था कुछ अभिमान। पर उससे भी ज्यादा था मन में यह डर कि रास्ते में बूढ़े को लू लग जाए तो, आखिर पाप तो उसे ही लगेगा न। उपन्यास के जासूस की तरह रसानंदबाबू ने लड़की के मन की बातों को ताड़ लिया। सोचने लगे- क्या उम्र है इसकी अभी! स्कूल का मुँह तो शायद इसने देखा भी नहीं होगा। पर, कितनी समझदारी है इसमें। कितनी चालाकी से इसने मुझे अपना कर लिया है। हो सकता है यह मेरे मन की बात को भी जान चुकी होगी। दोपहर की धूप में साइकिल ठेलते हुए बूढ़े में पदमपुर तक जाने की न ताकत है और न ही आग्रह।

"ना रे माँ! मैं तो कुछ और सोच रहा था। एक तो तेरे सास-ससुर का घर और अब तू खेत से लौट रही है। घर पर कितने सारे काम पड़े होंगे। उसके ऊपर मेरा बोझ।" रसानंदबाबू ने कहा।

"क्या बात करते हो तुम काका। मेरे बाप-काका आते तो मैं क्या भगा

देती। वैसे भी मेरे सास-ससुर अपनी बेटी के यहाँ गए हैं। कल लौटेंगे। तेरा जवाँई बेचारा कितना खुश होगा तुम्हें देखकर और अगर तुम दो घड़ी रहोगे तो मुझे कौन सा कष्ट है। तुम तो ठहरे बाम्हन जात। मैं चूल्हा जला दूँगी, तुम भात उतार लेना। मुझे कौन सा काम करना पड़ेगा।

अंततः रसानंद बाबू लड़की के घर गए। उन्हें लगा, जैसे दूसरे लोक से उनकी माँ लौट आई है। तेज धूप में बच्चे को किसी तरह बचाना है। पेट भर खिलाना-पिलाना है। लड़की का छोटा सा घर, दो ही कमरे। आधी छत खपरैल की, बाकी घास-फूस की। आँगन में मिट्टी की हँडिया में पानी रखा है। रस्सी की एक चारपाई पड़ी है। चारपाई पर एक फटी-पुरानी गुदड़ी बिछी है। छोटे बच्चे के लिए कोमल शय्या। बच्चा सोया था शायद। बीच में जाग जाने पर, पड़ोसी घर ले गए होंगे। घर में पहुँचते ही लड़की ने सिर से परात को उतारा। तुरंत काका के लिए पानी ले आई। खाट पर बिछी गुदड़ी को अंदर ले गई। वहाँ बैठने को कहा। उसके बाद वह गई पड़ोसी के घर बच्चे को देखने। पल भर भी विश्राम नहीं। एकदम यंत्र की तरह।

रसानंदबाबू कुछ देर तक खाली खाट पर बैठे, फिर लेट गए। थोड़ी देर बाद सो भी गए। सिर के नीचे तकिया न था, घर पर शायंद तक़िया नहीं है या फिर है भी तो गंदा-पुराना। शायद इसीलिए लड़की ने काका को तकिया नहीं दिया हो।

रसानंदबाबू की पतली नींद लड़की और उसके पति की फुसर-फुसर बातचीत से टूटी। लड़की कह रही थी– "मेरी भाभी के गाँव का आदमी है, उनके घर का पुरोहित। पदमपुर में नौकरी करता है। इस गरमी में साइकिल ठेलते हुए जा रहा था। मैंने सोचा लू न लग जाए।" इस पर उसका पति बोला– "यह सब तो ठीक है पर क्या खिलाओगी इसे।" लड़की ने जवाब दिया– "तुम क्या इतना मूर्ख समझते हो मुझे। एक ब्राम्हण को एक जून खिला नहीं पाऊँगी, बासी पखाल (भीगाकर रखा गया भात, इसे पांता भात भी कहा जाता है) है, हम दोनों के लिए हो जाएगा। नुनकी के घर से पाव भर चावल लाई हूँ। बूढ़े के लिए भात चढ़ा दिया है। बनबासी पंसेरी से आलू लाकर चावल में डाल दिया है, सीझ जाएगा। दो कच्चे केले तोड़ लाई हूँ बागान से। चूल्हे में रख दूँगी। चावल पकने पर बूढ़े को जगा दूँगी, उतार लेगा। थक गया है। अभी सो लेने दो उसे एक नींद।"

लड़की की बातों पर पति को कोई असहमति नहीं। पत्नी की सामर्थ्य पर उसे पूरा भरोसा है। तब भी उसने पूछा- "बेटा क्या बासी पखाल खाएगा, हमारे साथ।" लड़की ने जवाब दिया- "न, न, उसे क्यों बासी देने लगी। बूढ़ा आदमी क्या पाव भर चावल खा लेगा? बचेगा तो बेटे को खिला दूँगी। नुनकी के घर में कुछ खाया हुआ है, अभी खेल रहा है।" संतुष्ट होकर पति कहता है- "नुनकी के घर से वो काँसे की थाली माँग लेना। गिलट की थाली में खाना देना अच्छा नहीं लगेगा।" लड़की बोली- "अरे! तुमको पता नहीं, नुनकी के भाई की बीमारी में काँसे की थाली गिरवी चली गई, कहाँ निकाल पाए उसे? डूब गई वो तो।" "तो अब क्या करोगी?" उसके पति ने पूछा। शायद उसे नुनकी के घर की कांसे की थाली डूबने पर चिंता नहीं थी। चिंता थी तो इस बात की कि अब कहाँ से आएगी काँसे की थाली। पर लड़की के उत्साह में कोई कमी नहीं है। उसने कहा- "काँसे की थाली की क्या जरूरत है, खेत से मैं कच्चे पलाश के पत्ते लेते आई थी। पत्तल-दोना बना दूँगी।"

"थोड़ी सी दाल होती तो अच्छा होता। सूखा भात बूढ़ा खाएगा भी तो कैसे खाएगा!" पति ने कहा।

"क्यूँ! अचार है। नमक पानी डालने से रस्सेदार तरकारी बन जाएगी।" लड़की के जवाब से लगा, हर सवाल का उत्तर देने की तैयारी उसने पहले से कर रखी है। अंततः पति ने आश्वस्त भाव से कहा- "और क्या? अपने घर पर जो है, वही तो खिला पाएँगे हम।"

इन सारे प्रसंग में रसानंदबाबू का मन कर रहा था, पति-पत्नी की बातों के बीच कहें, मेरे लिए इतनी चिंता मत करो। कुछ भी होने से मेरा काम चल जाएगा। दोपहर को तुमने आश्रय दिया, ये क्या कम बात है! पर वे उठ नहीं पाए, गहरी नींद में सोने का अभिनय किए रहे। पति-पत्नी को मालूम नहीं होना चाहिए कि मैं उनकी बातों को सुन रहा था, यदि मालूम हो जाए तो बेचारे नंगे हो जाएँगे। शर्म से मुँह नहीं दिखा पाएँगे। पति-पत्नी के बीच प्रेम के अलावा और भी कई चीजें हैं और जो तीसरे आदमी को पता नहीं चलनी चाहिए। उन्हें अपने घर की बात याद आई। महीने का वह आखिरी सप्ताह, जब बड़े समधी और समधन आ पहुँचे। दुर्भाग्य था जिस वनिए से उधार आता है, उसके बेटे की शादी होने के कारण दुकान भी बंद थी। वैसे में रसानंदबाबू की नजर पड़ती है, पत्नी

के हाथ खर्च की गोलक पर। मायके से लौटते हुए या फिर बाजार के हिसाव से बचाकर या फिर कैसे न कैसे करके पत्नी अपनी बचत को एक गोलक में रखती है। पचास-सौ रुपए निकले उसमें से। उसी से आधा किलो बासमती चावल, कुछ महँगी सब्जियाँ और साथ में मछली या मांस ले आए थे। केवल उनके लिए उन दिनों स्पेशल बनता है। एक बार तो समधी अड़ गए कि दोनों समधी एक साथ खाने पर बैठेंगे। रसानंदबाबू ने कहा– "मैं तो नौ बजे भात खाकर आफिस जानेवाला प्राणी हूँ। दोपहर को आपके साथ खाना खाऊँ, एक तो तबीयत बिगड़ेगी, दूसरे आफिस छोड़कर घर आने पर मेरी नौकरी चली जाएगी। समधी भी जिद पर अड़े थे, कहने लगे– "तब तो नौ बजे मैं भी आपके साथ बैठूँगा।" अंततः दाल में पानी डाला गया और तरकारी में चावल का चूरा। "सोमवार को मैं मांस नहीं खाता हूँ। पूछना हो तो पूछ लीजिए अपनी समधन से।" यह कहते हुए रसानंदबाबू ने अपने लिए रास्ता बनाया। इसके बावजूद लगा, जैसे कोई बीच रास्ते में उनकी धोती चीर रहा हो। उनकी विनती कोई सुन नहीं रहा है।

"काका! उठोगे नहीं? भात पक गया है, उतार लो।" लड़की की आवाज ने रसानंदबाबू को जगा दिया। मुँह-हाथ धोकर वे भात उतारने लगे। मन कर रहा था बोलने का– "बेटी! तूने जब सारे काम कर ही दिए तो भात भी उतार देती, मेरी कौन सी जात चली जाती?" पर वे बोले नहीं। जात-कुजात के संस्कार की बात समझाने का यह समय नहीं है। हो सकता है लड़की समझेगी नहीं। उसके लिए जैसे सम्मान में काका बड़ा है, जात में ब्राम्हण भी ऊँचा है। फिर वे अपने आपसे पूछने लगे सचमुच मैं क्या संस्कारवादी दृष्टि से ये सब सोच रहा हूँ। या आलस में कोई काम नहीं करना चाहता हूँ। लड़की के हाथों सारे काम करवाना चाहता हूँ।

खाने पर जब बैठे तो उसी पुराने दृश्य की पुनरावृत्ति हुई। रसानंदबाबू ने सुझाव दिया, सब लोग एक साथ बैठ जाएँ। जवाँई ने कहा– "आप ठहरे बाम्हन, गोस्वामी, मैं कैसे साथ बैठूँगा!" बेटा तो पहले से खा चुका है और रही लड़की तो उसकी बारी अंत में है।" रसानंदबाबू समझ गए। उन्होंने जोर नहीं दिया। समधी की तरह नासमझ नहीं हैं।

खाना खाते समय एक बार फिर केतकी की बात आई। "तुम कुछ भी कहो काका, मेरी भाभी के दुख का कोई अंत नहीं है। बचपन से माँ नहीं है। अब बाप बीमार पड़ा तो बिस्तर में ही झाड़ा-पेशाब सब कुछ।

चार-चार बेटे, पर कोई नहीं पूछता। भाभी रोती रहती है। कहती है, काश भगवान ने मुझे लड़का बनाया होता तो मेरे बाप की यह दुर्दशा नहीं होती। मैं कहती हूँ, भाभी! तू लड़का पैदा हुई होती तो अपने भाइयों से कोई अलग होती?" समग्र पुरुष समाज के नाम लड़की का अभियोग।

रसानंदबाबू को अब तक पता नहीं था कि समारू बिस्तर पकड़ चुका है। पिछले महीने तो वे गाँव गए थे। किसी ने भी नहीं कहा। पर उन्होंने खुद भी तो कभी प्रयत्न नहीं किया, अपने बचपन के दोस्त के बारे में जानने का। आज किस मुँह से कहेंगे, समारू उसके बचपन का साथी है, पर गाँव में उससे कभी मुलाकात तक नहीं होती। इतनी होशियार लड़की, उपन्यास के जासूस की तरह उनकी चालबाजी को पकड़ भी चुकी होगी। रसानंदबाबू के मन में भय सा पैदा हो गया।

"तुम लोग एक बार पदमपुर आओ बेटी! दो दिन रहकर जाओ। अच्छा लगेगा। तेरी काकी भी बहुत खुश होगी।" रसानंदबाबू के मन में अंदेशा हुआ, यह उनकी मन की बात नहीं है। समारू की चर्चा को टालने की मनसा से उन्होंने यह निमंत्रण दिया है। अपनी चालबाजी के लिए लड़की के आगे आत्मसमर्पण करने से पहले मानो वे उसके हाथों घूस थमा रहे थे।

शरीर में थकान थी, पेट में भूख। खाना भी खूब स्वादिष्ट था। गरम भात, आलू, केले का भर्ता (चोखा), अचार, झोल (शोरबा) और हरी मिर्च। देगची से भात निकालते हुए उन्हें डर लग रहा था, बच्चे के लिए कुछ बचेगा तो, या लोभवश सारा भात अकेले उड़ेल लेंगे।

भोजन के बाद रसानंदबाबू फिर कुछ देर के लिए सो गए। जब तक उनकी नींद खुली, जवाँई वापस खेत पर जा चुका था। मेहमान की खातिरदारी के लिए उसके पास समय कहाँ है? मुँह-हाथ धोने के बाद रसानंदबाबू भी निकल पड़े। निकलने से पहले लड़की को एक बार फिर परिवार सहित पदमपुर आने का निमंत्रण दिया। आने का दिन भी तय कर गए। निमंत्रण कोई बनावटी नहीं है, यह सिद्ध करने के लिए इससे ज्यादा और कह भी क्या सकते थे!

इस घटना के दो महीने बाद सचमुच अपना परिवार लिए लड़की पदमपुर पहुँची। घर में पहुँचते ही लड़की ने काकी के हाथ एक थैला थमा दिया। उसमें आठ-दस कच्चे केले, दो पाव मूढ़ी-धान (लाई), एक किलो के माफिक परवल और अलग से कुछ पुड़ियाओं में सुखुआ (सूखी) मादल

(मछली)। अपने पति की ओर इशारा करते हुए उसने कहा- "समझे, काका! तुम्हारे जवाँई के साथ मेरा खूब झगड़ा हुआ, कह रहे थे, ये सब क्या ले रही हो। शहर में क्या कोई ऐसी चीजें खाता है?" मैंने कहा, "काका-काकी मेरे गाँव के लोग हैं। शहर में रह रहे हैं तो क्या, गाँव का खाना भूल जाएँगे। उनके घर में क्या पेड़े-रसगुल्ले की कमी है, जो हम यहाँ से लेकर जाएँ।"

पहली मुलाकात में ही रसानंदबाबू की पत्नी ने लड़की और उसके परिवार को एकदम अपना लिया। बोलने लगी- "तुम ठहरी बेटी, माँ के घर जब बेटी आती है, तो क्या कभी कुछ लेकर आती है?" रसानंदबाबू ने कहा, "परवल उनको बहुत पसंद है।" केले की उन्नत आकृति देखकर पत्नी ने आश्चर्य जताया। लड़की और उसके पति आश्वस्त हुए। साथ में 'कुछ' नहीं लाने की ग्लानि उन्हें खा नहीं गई। दो दिन में ही वे लोग रसानंदबाबू के परिवार के साथ घुलमिल गए। पत्नी ने जिस आत्मीयता से उन लोगों के साथ बातचीत की, रसानंदबाबू आश्चर्यचकित रह गए। महिलाएँ सचमुच बहुत ही बुद्धिमती होती हैं। परिस्थिति के साथ ताल मिलाकर चलने में वे हमेशा पुरुष से ज्यादा पारंगत मालूम पड़ती हैं। लगता है जैसे वर्षों से वह उन लोगों को जानती हो।

इस बीच दो बार लड़की ने घर में झाड़ू लगा दी। एक स्टूल पर चढ़कर लंबी झाड़ू से ऊपर का जाला भी साफ कर दिया। आँगन में मिट्टी का एक चूल्हा बनाने का उसने प्रस्ताव रखा यह कहकर कि कभी-कभार काकी उस पर मूढ़ी (लाई) भूँजेंगी। उसके लिए केवल उसे एक फावड़ा चाहिए। दूसरी ओर जवाँई को भी फावड़ा चाहिए। बाहर एक गड्ढा खोद देगा, बची-खुची साग-सब्जी उसमें डालते जाओ, अच्छी खाद बन जाती है। अपनी बगिया में कुछ लगा लो, तो सरकारी खाद की जरूरत नहीं होती है। अपनी बगिया की सब्जी में जो मिठास है, बाजार की सब्जी में कहाँ?

पत्नी बीच-बीच में उन्हें रोक रही थी। "माँ के घर पर कभी बेटी-जवाँई काम करते हैं?" उसकी बातों को लड़की अनसुना कर देती थी। "यह भला कोई काम है? माँ की मदद बेटी नहीं करेगी तो और कौन करेगा?" एक-दो बार रसानंदबाबू ने भी उन्हें रोका। पर, उनके रोकने में दम नहीं था। "मेरी अपनी बेटियाँ भी तो गरमी-दशहरे में जब आती हैं, अपनी बूढ़ी माँ की मदद करती हैं।" पर, उन्हें अहसास हुआ कि ये तर्क वे लड़की को

अपनी बेटी मानकर नहीं दे रहे थे, पत्नी का काम यथासंभव कम करने के स्वार्थ से दे रहे थे। अपने ओछेपन को वे पहचान पाए। फिर भी लड़की और उसके पति को काम करने से जोर देकर रोका नहीं, चुप रहे।

रात को लड़की और उसके पति में काफी देर तक फुसर-फुसर चली। रसानंदबाबू की पतली नींद। पास के कमरे में वे लेटे हुए थे। न चाहते हुए भी उन दोनों की बातें उनके कानों तक आ रही थीं। यहाँ मेहमान होकर आने के अलावा पदमपुर में उन लोगों का एक और बड़ा काम है। बाजार से कपड़े खरीदना। बात चल रही थी किसके लिए कपड़े खरीदे जाएँ। बेटे के लिए पैंट-शर्ट या फिर लड़की के लिए साड़ी या पति के लिए धोती। लड़की का तर्क था– "मैं तो घर पर रहती हूँ। तुमको कई बार आना होता है पदमपुर बाजार। सब्जी बेचने या फिर कुछ न हुआ तो साहू की बैलगाड़ी के साथ। हाट में काका के साथ इस फटी हुई धोती में भेंट हो जाए तो मेरी और क्या इज्जत रह जाएगी। घूम-घामकर बात भाभी के कानों में पड़ेगी।" सुनते ही उसका पति बिगड़ गया– "फालतू की बात मत कर, किसी की नजर मुझ पर नहीं पड़ेगी। तू फटा पहनेगी तो लोग तुझ पर नहीं मुझ पर हँसेंगे।" लड़की ने कहा, "मैं कह नहीं रही थी, गागर को गणेशिया के घर गिरवी रख देते हैं। पदमपुर जब जा ही रहे हैं, सबके लिए थोड़ा-बहुत कपड़ा ले आएँगे। तुमने तो मना कर दिया। प्रधान के घर बर्तन माँजकर मैं दो महीने में गागर निकाल लाती।" जवाँई ने कहा, "छोड़ो भी, बेटे के इक्कीसवें पर उसके मामू ने जो पीतल की थाली दी थी, वह क्या निकल पाई! इसलिए मैं कहता हूँ चीजें गिरवी रखने का कोई मतलब नहीं है। बेच दो तो कम से कम ठीक-ठाक दाम तो मिल जाएँगे।" लड़की ने कोई जवाब नहीं दिया। अंततः तय हुआ बेटे के कपड़े अगली बार खरीदेंगे। लड़की के लिए आठ हाती (आठ हाथ का) एक थान कपड़ा लेंगे और जवाँई के लिए एक गंड (मोटे कपड़े) चार हाती गमछा, बारिश के दिनों में जरूरत पड़ने पर पहना भी जा सकेगा। कपड़े खरीदने की बात तय होने के बाद लड़की ने प्रस्ताव रखा काका के साथ दुकान पर जाएँगे, तनिक सस्ता मिल जाएगा। जवाँई को यह बात पसंद नहीं आई। "बड़ी दुकान में जाने के लिए पैसे होने चाहिए। काका के आगे मोल-भाव करना भी अच्छा नहीं लगेगा।" आखिर में तय हुआ, काका के घर से निकल जाने पर वे लोग बाजार जाएँगे। खरीदारी के बाद वहाँ से सीधे घर चल देंगे। रिश्तेदारों के आगे खरीदारी करके आदमी को अपमानित नहीं होना चाहिए।

रसानंदबाबू सारी बातें सुनते रहे। पति-पत्नी की बातों में कोई अस्वाभाविकता दिखाई नहीं पड़ी। परिवार की पूरी आस रहती है, थोड़ी सी खेती के ऊपर। कभी धान को बंगी कीड़े खा गए, तो कभी सूखे की चपेट में सारी खेती लुट गई। छोटे किसान हैं ये लोग अनायास बेचारे मजदूरी के स्तर पर उतर आते हैं। पेट काटकर साग-सब्जी को बाजार में बेचेंगे। अपनी खेती का काम जल्दी खत्म करते ही दूसरे के खेतों पर काम करेंगे। उसके बाद ही साल भर के लिए कपड़ा-लत्ता खरीदेंगे, शादी-ब्याह में शामिल होंगे। दशहरा और रथयात्रा के लिए चंदा देंगे। क्या धूप, क्या बरसात! चींटी की तरह एक-एक दाना जोड़ रहे होंगे। उसके बावजूद गिरवी रखा बरतन निकलता नहीं, डूब जाता है। छत की टूटी हुई खपरैल के बदले घास-फूस लगाते हैं। कभी किसी के बीमार पड़ जाने पर जमीन भी चली जाती है। सब कुछ सरल, स्वाभाविक छंदहीन है इनका संसार। जन्म, मृत्यु, बाढ़ और सूखे की तरह।

रसानंदबाबू को याद आया, दशहरे में देने के लिए दोनों बेटियों के लिए साड़ी खरीदकर रखी थी। छोटी बेटी के दादा-ससुर चल बसे, बेटी आई नहीं। श्राद्ध के बाद आएगी। उसकी साड़ी रखी हुई है। दुकान में लौटाई नहीं। उस साड़ी को इस लड़की को दे दें तो? पत्नी के आगे प्रस्ताव रखने का साहस नहीं हुआ, मना कर देगी तो? रहने दो, रसानंदबाबू ने करवट बदली। आजकल नींद नहीं आती आसानी से। कभी-कभी तो सारी रात कट जाती है। सब उम्र का ही दोष है। पत्नी के आगे प्रस्ताव न रखने के पीछे केवल पत्नी का डर ही क्या एकमात्र कारण है? या साथ में अपनी कंजूसी भी। छोड़ो भी, ये लोग खेत में काम करते हैं, मोटी साड़ी पहनते हैं। महँगी-पतली साड़ी से इनका काम नहीं बनेगा। रसानंदबाबू को याद आया। मजदूरों को नाश्ता बाँटते हुए माँ ठीक इसी तरह के तर्क दिया करती थी- महीन चावल के भात इनको हजम नहीं होते हैं, ये ठहरे मजदूर लोग, मोटे चावल का भात इन्हें अच्छा लगता है।

सुबह नाश्ते में पत्नी ने पुड़ियाँ बनाई थीं। साथ में रस्सेदार परवल की सब्जी। केवल खास मेहमानों के लिए पत्नी इस तरह का नाश्ता बनाती है। पत्नी के सम्मान-बोध से रसानंदबाबू बहुत प्रसन्न हुए।

आखिर लड़की और उसके परिवार के जाने का समय हुआ। पत्नी ने कबसे थैले में वह साड़ी डाल रखी है। रसानंदबाबू को शायद इस बात

का पता भी न लगता, यदि लड़की थैले को देखते ही चिल्ला न उठती। मानो कुछ अप्रत्याशित सा घट गया। "न, न ये क्या कर रही हो काकी। मैं बिलकुल नहीं लूँगी। मेरे पास तो कई साड़ियाँ हैं। मैं क्या करूँगी साड़ी का?" लड़की ने कहा।

"क्या बात कर रही हो तुम, तुम्हारे पास क्यों साड़ी की कमी होने लगी! पर, माँ के घर से क्या बेटी कभी खाली हाथ लौटती है? लोग क्या कहेंगे मुझे?" पत्नी ने कहा। रसानंदबाबू को लगा, पत्नी ने भी सुनी है इन लोगों की बातें। डर से रसानंदबाबू के आगे साड़ी देने का प्रस्ताव रख न सकी। उनसे छिपाकर साड़ी दे देने को तय किया था। बाद में रसानंदबाबू नाराज होते तो चुपचाप सह जाती।

काकी का तर्क सुनकर लड़की एकबारगी चुप रही। शायद सोच रही थी प्रतितर्क क्या रखेगी। फिर बोली- "ठीक है काकी, तूने दिया है मैं क्या इनकार करूँगी। यह साड़ी मैं रख रही हूँ। अब मैं दे रही हूँ अपनी बहनों को, रख लो, रखने से तू मना नहीं कर सकती क्योंकि मैं तुम्हें नहीं दे रही हूँ। दशहरे में जब मेरी बहनें आएँगी तो किसी एक को मेरी तरफ से दे देना।" लड़की ने साड़ी को काकी के हाथ में जबरदस्ती थमा दिया। अपने थैले के मुँह को इस तरह पकड़े रखा जैसे साड़ी उसके अंदर जबरदस्ती घुस न जाए।

इसके बाद वे लोग घर से निकल गए। रसानंदबाबू ने उन लोगों के साथ-साथ कुछ दूर तक जाना चाहा। वे पीछे रह गए।

जवाँई ने बेटे को कंधों पर बिठा रखा था। वह कह रहा था- "मैं तो बीच में डर सा गया, तू लोभ संभाल नहीं पाएगी। साड़ी रख लेगी।" लड़की बोली- "क्या बात करते हो तुम? मैं क्या इतनी बेवकूफ हूँ? साड़ी ले आती तो मेरी क्या इज्जत रह जाती? वे समझते भूखे लोग हैं। साड़ी वसूलने के लिए रिश्ते बनाते हैं। मुझे कोई दरकार नहीं इस पाट साड़ी की। मेरी फटी साड़ी ही मेरे लिए अच्छी है।

रसानंदबाबू तमाम प्रयासों के बावजूद उनसे ताल नहीं मिला सके, पीछे ही रह गए। क्रमशः रसानंदबाबू और उन लोगों में फासला बढ़ता गया। वे लोग जल्दी-जल्दी पाँव बढ़ा रहे थे। खरीदारी खत्म करने के बाद शाम होने से पहले उन्हें घर भी पहुँचना होगा।

ठंडी बरफ

गाँव में हम लोग आइसक्रीम को आइसक्रीम नहीं कहकर ठंडी बरफ क्यों कहते थे, इसका कारण कभी खोजने की कोशिश मैंने नहीं की। उन दिनों गाँव में ठंडी या केवल बरफ न कहकर दो शब्दों को मिलाकर ठंडी बरफ क्यों कहते थे। इसका कारण जब मैं अकेले में होता था, खोजने की काफी कोशिश करता था।

पता नहीं है क्यों कई बार सर्दी के दिनों में भी मुझे ठंडी बरफ की कई बार याद आती थी। सोचता था, जैसे गरमी के दिनों में माँ-बाबूजी लोग बच्चों को ठंडी बरफ खाने से रोकना अपना कर्तव्य मानते हैं, वैसे ही सर्दी के दिनों में उन्हें ठंडी बरफ खिलाना अपना कर्तव्य क्यों नहीं मानते? कई मामलों में तो वे ऐसा ही रवैया अपनाते हैं जैसे, सुबह सो जाओ तो जगाएँगे, रात को जगे रहो तो सुलाएँगे। परंतु ठंडी बरफ के मामले में उनका रवैया साल भर एक ही रहता था। कभी मत खाओ। फिर सोचता था यदि बापा (पिता) ठंडी बरफ बेचते होते तो कैसा होता? तब उनका मास्टरवाला चश्मा तो एकदम नहीं फबता। हमारे गाँव में जो नाटा और गंजा ठंडी बरफवाला आता था, उसकी तरह धोती के बदले बापा भी हाफ पैंट पहनते और सिर पर गमछे से बनी पगड़ी बाँधते। पर जब कोई उन्हें पीछे से बुलाता, 'ऐ ठंडी बरफवाले, सुनो' तो साइकिल से उतने के लिए उन्हें बरफवाले की तरह कोई ऊँची जगह ढूँढ़ने की जरूरत नहीं पड़ती। साइकिल पर फिर सवार होने के लिए उन्हें कोई दालान या पत्थर का सहारा लेना नहीं पड़ता। नाटे ठंडी बरफवाले को साइकिल पर चढ़ने और फिर साइकिल से उतरने के लिए भारी मशक्कत करने होती थी। गाँव-गाँव में साइकिल चलाकर ठंडी बरफ बेचना पड़ता था। उसकी मशक्कत देखकर मैं सोचता था कि अगर उसका वश चलता तो वह साइकिल चलाना ही छोड़ देता। मुझे उसकी मशक्कत के लिए साइकिल के कैरिअर में बँधी पानी की टंकी सी बड़ी ठंडी बरफ की पेटी भी काफी हद तक जिम्मेवार मालूम पड़ती थी। मैं कई बार सोचता अगर वह साइकिल

मेकानिक को कहकर ठंडी बरफ की पेटी को कैरियर के बदले साइकिल के सामने रखवा देता तो कितना अच्छा होता।

अगर बाबूजी ठंडी बरफ बेचते तो दो फायदे मुझे दिखाई पड़ते। एक तो हम भाई-बहनों को खूब ठंडी बरफ खाने को मिलती, क्योंकि शाम को जब वे घर लौटते, दो-चार ठंडी बरफ जरूर बची हुई होती पेटी में। दूसरे, ठंडी बरफ की वे इतनी बुराई न करते।

हमारे घर में माँ और बापा की सोच में जिस चीज को लेकर कोई भी मतभेद नहीं था वह थी– ठंडी बरफ। इसकी बुराई करते हुए दोनों में कोई भी कोताही नहीं करता था– बच्चों को तो उससे एकदम दूर रहना चाहिए, बापा कहते थे, ठंडी बरफ ऊपर से ठंडी होती है, परंतु जब पेट में जाती है तो वह जलते अंगार की तरह सब कुछ भुनकर रख देती है। माँ कहती थी उस पर थोड़ा मिट्टी का तेल डाल दो तो उससे बड़े-बड़े कीड़े निकलते हैं। हालाँकि मैं यह सब सुन लेता था, पर दोनों के मत मुझे बेतुके लगते थे। सोचता था, यह ठंडी बरफ पर पैसा खर्च न करने की उनकी मिलीभगत है। क्योंकि उनके दिए कारणों का कोई असर मुझ पर नहीं था। मैं हर वक्त मौके की तलाश में रहता था कि ठंडी बरफ खाऊँ। दोपहर में जब ठंडी बरफवाला गाँव में आता था साइकिल में लगा उसका पों-पोंवाला भोंपू दूर से ही सुनाई पड़ता था। उसके बाद और क्या? फटाक से कटोरी भर चावल लेकर घर से भाग जाता था। घर में कोई भी यह नहीं जान सकता था। कभी-कभार दीदी देख लेती थी। पर हम दोनों अपने में ही इस समस्या को सुलझा लेते थे। लड़की और ऊपर से थोड़ी बड़ी होने के कारण गर्मी की दोपहरी में उसे घर से निकलने की मनाही थी। ठंडी बरफ पाने के लिए उसे मेरी सहायता की जरूरत पड़ती थी।

इस मामले में मुझे रोकने के लिए माँ भी तरह-तरह के हथकंडे अपनाती थी। कभी दोपहर को कहानी कहकर सुला ही देती थी। कभी जिस कमरे में चावल रहता था, उसकी छिटकनी लगा देती थी। इसके बाद मेरे पास ठंडी बरफ खाने का एक ही रास्ता बचता था – घर में कोई मेहमान आए तो उनके जाने तक इंतजार करना क्योंकि वे बच्चों को दो चार आना देंगे घर से निकलते वक्त। अगर आने के समय मिठाई या केला बिना लिए आए हों तो आठ आना या रुपया भी मिल सकता है। इसलिए मेहमानों के आने से मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहता था। मानो भगवान ने उन्हें मेरी मदद के लिए भेजा हो।

उन दिनों हमारे गाँव में आनेवाला वह ठंडी बरफवाला, ठिगना, नाटा

और गंजा था। पगड़ी से तो वह अपने गंजेपन को छुपा देता था पर नाटापन उसका छिपाए न छिपता था। हाफपैंट में वह और भी नाटा लगता था। हाफपैंट के अलावा उसकी एक और खासियत थी उसकी कलाई की घड़ी। वह अपनी दोनों कलाइयों में दो घड़ी पहनता था, चूड़ी की तरह। पर दोनों घड़ी चलती नहीं थी। इसलिए कोई टाइम पूछे तो, वह गुस्सा करता था। कई बच्चे तो उसे चिढ़ाने के लिए ही बार-बार टाइम पूछते थे। चूँकि इस तरह का कोई आदमी गाँव में होता नहीं था, मैं सोचता था-- यह ठंडी बरफवालों की वर्दी होगी। हमारे गाँव में वही अकेला ठंडी बरफ बेचने आता था, बर्दीवाली बात को लेकर मेरे मन में कोई संदेह न था। उसके अकेले आने से मैं यह भी सोचता था, शायद दुनिया में एक या ज्यादा से ज्यादा दो-चार ही ठंडी बरफ बेचनेवाले होंगे। यह एक बड़ा मुश्किलवाला काम है। जब हमें स्कूल में चिट्ठी लिखना सिखाया गया तो अपने इस आविष्कार की सच्चाई जानने के लिए मैंने अपने मामा के लड़कों को इस बारे में ज्यादा जानकारी देने के लिए एक पत्र लिखा था। मैंने पूछा था कि उनके गाँव में आनेवाला ठंडी बरफवाला भी क्या हाफपैंट पहनता है और कलाई में दो न चलनेवाली घड़ी बाँधता है।

ममेरे भाई की जो चिट्ठी आई, उसने तो मानो मेरी आँखें खोल दीं। उसका कहना था, उसके गाँव में कई ठंडी बरफवाले आते हैं। कोई फुलपैंट पहनता है तो कोई आँखों में काला चश्मा लगाता है। कइयों की साइकिल पर भोंपू नहीं होता है। केवल वे जोर-जोर से आवाज लगाते हैं – ठंडी, मीठी आइसक्रीम – ठंडी बरफ। उसने लिखा था कि कई बार गाँव में एक ही समय में दो-दो ठंडी बरफवाले आ जाते हैं और तब कभी-कभी ठंडी बरफ का दाम दस पैसे से घटकर दस पैसे में दो या बीस पैसे में तीन हो जाता था। कटोरी भर चावल में दो-दो ठंडी बरफ मिल जाती है।

ममेरे भाई की चिट्ठी मिलने के बाद मानो मैं यदि ईश्वर या सरकार होता, तो अपने गाँव में एक ही साथ पाँच-सात ठंडी बरफवाले को भेज देता। इससे बच्चों को दस पैसे में तीन-तीन, चार-चार ठंडी बरफ खाने को मिल जाती। बच्चे भी खुश माँ-बाप भी खुश। इससे कम दाम में मार और गाली के अलावा एक बच्चे को क्या मिल सकता है?

ईश्वर ने मानो मेरी सुन ली, कुछ दिनों बाद हमारे गाँव के चेतन बाघ ने रघु मेकानिक की दुकान से एक साइकिल किराए में ली और गाँव में ठंडी बरफ लाने लगा। कुछ दिनों में ही चेतन बाघ और हाफ पैंटवाला – दोनों एक साथ गाँव में आवाज लगाते हुए और भोंपू बजाते हुए ठंडी बरफ

बेचने लगे। कुछ बच्चे तो यह भी कहने लगे, चेतन बाघ की ठंडी बरफ ज्यादा मीठी और ज्यादा ठंडी होती है। उसने कारखाने में बरफ बनानेवाले मिस्त्री से कह रखा है – अपने गाँव के बच्चे हैं जरा कड़कवाली ठंडी बरफ देना।

खैर, चेतन बाघ के ठंडी बरफ बेचने से मैं निश्चिंत हुआ कि इस काम में बहाली होने के लिए हाफपैंट या दोनों कलाई में बिना चलनेवाली घड़ी बाँधना कोई जरूरी नहीं है। चेतन बाघ के ठंडी बरफ बेचने के कुछ दिनों बाद पहलेवाले बेचनेवाले का और आना नहीं हुआ। बच्चों से उसके न आने के अलग-अलग कारण सुनने को मिलते थे। कुछ बच्चों का कहना था, चेतन ने उसे गाँव में आने से मना किया है। धमकी दी है, हमारे गाँव में आएगा तो टाँगे तोड़ दूँगा। चेतने के डर से वह नहीं आता है। कुछ बच्चों ने कहा, गर्मी में घूमते-घूमते उसे लू लग गई है। ठीक होने में कई महीने लग जाएँगे। इसका अर्थ है धूप में बच्चों को बाहर निकलना नहीं चाहिए। कुछ बच्चे तो बुजुर्गों के दिए हुए कारणों को बिना तोड़े-मरोड़े वैसे ही पेश करने लगे थे– उसकी ठंडी बरफ की पेटी से बहुत बड़े-बड़े कीड़े निकले। तबसे थानेदार ने उस ठंडी बरफवाले को और उन कीड़ों को जेल में डाल दिया है। उसके जेल से निकलते-निकलते तो गर्मी का मौसम भी खतम हो जाएगा।

चेतन बाघ ने जब गाँव में ठंडी बरफ बेचना शुरू किया तो कुछ तबदीली आई इस मामले में। उससे ठंडी बरफ उधार में मिलने लगी। मेरी माँ ने कहा है, या दीदी ने कहा है – कहने पर उससे उधार में भी ठंडी बरफ मिल जाती थी। उससे भी बड़ी बात यह थी कि अब दोपहर तक ठंडी बरफ के लिए इंतजार नहीं करना पड़ता था। बहुओं के नहाने के समय तक चेतन बाघ की ठंडी बरफ गाँव में पहुँच जाती थी। चेतन ठंडी बरफ – मीठीवाली, ठंड़ीवाली की बोली लगाते हुए घूमता नहीं था, भोंपू के जरिए अपने आने की सूचना दे देने के बाद अपने बरामदे में ही साइकिल को टिकाकर घर के अंदर चला जाता था। उसकी औरत या बेटी ठंडी बरफ बेचते थे। जिस तरह गाँव में मूड़ी खरीदने लोग केवट के घर या तेल खरीदने तेली के घर जाते थे उसी तरह ठंडी बरफ खरीदने बिमला के घर (चेतन की बेटी का नाम) जाने लगे।

चेतन के ठंडी बरफ बेचने से कुछ नुकसान भी हुए। कटोरी में चावल की मात्रा समान होने पर भी, किसी-किसी को उसकी बेटी बिमला कम या ज्यादा ठंडी बरफ देने लगी। लड़कों से तो वह एकदम नाराज रहती थी।

उसकी पक्षपात की शिकायत लगाओ, तो कहती– तुम्हें हमारी ठंडी बरफ पसंद नहीं तो और कहीं से खरीदो, जाओ। अच्छा हुआ चेतन बाघ का यह मनमाना कारोबार ज्यादा दिन तक चल नहीं पाया। उन दिनों तालाब के पानी के लिए गाँव के ऊपरी और निचले मुहल्ले में कहा-सुनी हो गई। तालाब के पानी को पंप से लेंगे और सब्जी उगाएँगे– ऐसी योजना थी खेतिहरों की। ऊपरी मुहल्ले के लोगों ने इसका विरोध किया, क्योंकि उनके पास कोई जमीन ही नहीं थी। उन्होंने कहा तालाब से पानी ले जाओगे तो हम गरमी के दिनों में जिंदा कैसे रहेंगे? गाँव में जब इस तरह की फूट पड़ी तो चेतन की आफत आ गई। वह था ऊपरी मुहल्ले का, सुखबासी यानी बिना जमीनवाला। निचले मुहल्ले के कुछ जवान लड़कों ने उससे कह दिया, तुमसे हम ठंडी बरफ नहीं खरीदेंगे और गलती से भी तुम हमारे मुहल्ले में आए तो, तुम्हारी ठंडी बरफ की पेटी छीनकर खा लेंगे। उसके बाद कहाँ से वे उस पुराने हाफ पैंटवाले को बुला लाए। तुम्हें कोई कुछ कहेगा तो हम तुम्हारे साथ हैं। यह अभय वाणी सुनते ही गंजा फिर से हमारे गाँव में आने लगा। अब हमें पता चला कि चेतन के डर वह इतने दिनों तक आता नहीं था। लू और पुलिसवाली बात तो एकदम झूठ थी।

अबकी बार जब वह आया तो उसका पुराना रोब दिखाई नहीं पड़ता था। हम बच्चों के उसकी साइकिल के चारों ओर चींटी की तरह जमा हो जाने के बावजूद वह न किसी को भगाता था और ना ही गुस्सा करता था। टाइम पूछने पर मुस्कुराते हुए कहता था, खुद देख लो। मुझे घड़ी देखना आता होता तो मैं ठंडी बरफ बेचने भरी दोपहरी में नहीं घूमता। बड़े लड़कों को वह कभी-कभार पाँच पैसे की एक ठंडी बरफ दे दिया करता। यह देखकर मैं कई बार सोचता, भगवान, मैं जल्दी क्यों बड़ा नहीं हो जाता! फिर बड़ा दिखने के लिए कभी-कभी अपने गमछे से सिर पर पगड़ी बाँधता या गमछे को लूंगी की तरह पहनता। उसके पास कई बार खड़े होकर मैंने ठंडी बरफ बेचने के नफे नुकसान के बारे में भी जानना चाहा। फिर बुजुर्ग आदमियों की तरह पूरी बात सुनने के बाद 'अच्छा-अच्छा' कहा। इसके बावजूद वह मुझसे एक ठंडी बरफ के लिए हमेशा दस पैसे लेता था। कटोरी का चावल रखते हुए उसने एक बार यह भी कह डाला– ठंडी बरफ आजकल काफी महँगी हो गई है। कटोरी में कुछ ज्यादा चावल लाया करो। इससे साफ जाहिर था कि वह मुझे अभी तक छोटा बच्चा ही समझता था। ऐसे में जवान लड़का होने के लिए इंतजार करने के अलावा मेरे पास और कोई दूसरा चारा नहीं था।

मोटर

जबसे गबरू का परिवार जन्हापुरा गाँव में आकर रहने लगा तबसे गबरू की दुनिया ही बदल गई है। आजकल दिन-रात वह मोटरें ही मोटरें देख रहा है। साथ ही अपने छोटे भाई को जो हरदम गबरू की गोद में ही रहता है, दिखा रहा है- चार चक्केवाली, छह चक्केवाली, लीलैंड, कछुआ-कार, मिनी बस, फटफटिया... जब भी देखो- घर्र...घर्र...दौड़ते जा रही हैं। न जाने कहाँ से आती हैं और न जाने कहाँ चली जाती हैं। इस रहस्य को तो शायद भगवान भी न जानता होगा। यही सब सोचते हुए गबरू को अजब सी खुशी हो रही थी। चलो, यह भी किस्मत की ही बात कि साहूकार ने जो जगह गबरू के पिता को रहने के लिए दी, वह सड़क के बिलकुल किनारे पर है। मोटर की आवाज सुनते ही गबरू में गजब की तेजी आ जाती कि तपाक से काँसे का थिर (माड़) मुँह में उड़ेलकर वह सड़क की ओर भाग पड़ता। इस तरह भागते हुए गबरू को देखकर माँ को उसकी नादानी पर हँसी आ जाती और वह कहती– "अब तुम मोटर को क्या देख पाओगे, वह क्या तुम्हारे लिए रुकी हुई होगी?"

गबरू पूछता, "माँ ! हमारे साथ चमरा क्यों नहीं आया?"

चमरा उसका चचेरा भाई। उसका हमउम्र। उसे लगा कि कितना अच्छा होता कि चमरा को इतनी सारी मोटरें दिखाकर आश्चर्यचकित कर देता। उनके गाँव में तो मोटर की गंध तक नहीं थी, हालाँकि यहाँ से मात्र दो कोस पूरब में ही उनका गाँव है। साल-दो साल में एकबार कागज बाँटनेवाली या झंडे फहरानेवाली मोटर जब आती थी– बच्चे से बूढ़े तक माईकवाली उस मोटर को घेरकर खड़े हो जाते। और यहाँ देखो तो दिन-रात चारों पहर मोटर ही मोटर। शुरू-शुरू में तो मोटर की आवाज सुनकर गबरू की नींद ही टूट जाती थी, मगर आजकल तो कुछ नहीं...। अब तो गबरू बिना देखे ही मात्र आवाज सुनकर ही घर में बता देता है

कि लीलैंड गई है कि कछुआ-कार। गाँव के बदल जाने के साथ ही आई अपनी इस नई योग्यता के प्रति गबरू खुद आश्चर्यचकित था।

न जाने गबरू कहाँ से एक तार ले आया। उसे दोहरा-तिहराकर उसने कड़े का रूप दिया और हाथ में पहन लिया। अँगोछा उठाया और पगड़ी बाँध डाली। चावल की हँडिया के पेंदे से कालिख उतारकर चेहरे पर दाढ़ी-मूंछें बना डाली और कहने लगा कि वह सरदारजी बन जाएगा और मोटर चलाएगा। खाट के बाँस पर चढ़कर या चावल कूटनेवाली 'ढींकी' की पीठ पर बैठकर घों-घों करके इंजिन की नकल उतारता है। छोटे भाई को टिकट-मास्टर बनाता है ... जोर-जोर से चिल्लाता है ... बरगड़...बरगड़... रायपुर... रायपु .

माँ खुशी से कहती, "वाह रे मेरे मोटर चलानेवाले।" बापू कहता है, "ठहरो तो जरा। किसी दिन मैकानिक से कहकर साइकिल की दुकान से एक टायर ले आऊँगा। फिर चलाते रहना दिन-रात मोटर..."

उस दिन 'भूती' (सप्ताह भर की मजदूरी में मिलनेवाला धान) लेकर गबरू की माँ घर आई और बोली- "साह के दालान पर मोटर आई है, जा देख आ।"

स्वीकृति पाते ही छोटे को भूलकर गबरू साह के दालान की ओर बेतहाशा भागने लगा। माँ ने बीच में ही लताड़ा- "कंबख्त कहीं के। भाई को नहीं ले जाएगा, अकेले देखेगा, मोटर?"

रास्ते में गबरू को चुहल सूझी – छोटे की ओर दो अँगुलियाँ दिखाकर शर्त लगाई- "बोलो कौन सी मोटर आई होगी?" पहली अँगुली का मतलब जीप मोटर और दूसरी का कछुआ-कार। छोटे ने जीप मोटरवाली अँगुली को छुआ और जाकर देखा तो साह के दालान में सचमुच एक जीप-मोटर खड़ी थी- बिलकुल नई। छोटे की बात सही निकली। जीप-मोटर के इर्दगिर्द चीटियों की तरह बच्चे जमा हो गए थे। कोई नाम पढ़ रहा था, तो कोई नंबर। कोई कह रहा था बी.डी.ओ. की मोटर है, तो कोई कह रहा था कि बच्चे चुराकर ले जानेवाली मोटर है, बाँधकर ले जाएगी।

गबरू पहुंचते ही रौब डालने लगा- "कोई मत छूना! हमारे साह की मोटर है। मैं बोल दूँगा।"

उसके कहने के बावजूद बच्चों पर कोई असर नहीं हुआ। एक

शरारती बच्चे ने कहा,. "क्या तेरे साह ने जनी है मोटर...?" यह बात गवरू को अच्छी नहीं लगी। तभी उसने सुना कि किसी बच्चे ने 'हरन' को दबा दिया है। गबरू का पारा चढ़ रहा था। वह दौड़कर साह के घर शिकायत करने गया- "देखो! देखो! मोटर तोड़ दी है।" सुनकर बूढ़ा साह घर से निकला, तो ड्राइवर भी पीछे-पीछे। बच्चों को डरा-धमकाकर गबरू को मोटर की रखवाली का अधिकार सौंप दिया- "कोई छुए तो मुझे बोलना।" गबरू की खुशी का ठिकाना न रहा। एक पतली बेंत लेकर गबरू मोटर पर चढ़ गया। छोटे-भाई को ड्राइवर की सीट पर बिठाया। गाड़ी को आगे-पीछे से देखा। बोला- "कोई भी छुएगा तो मार डालूँगा।" इसके बाद हैंडल, बिरेक सब खुद ही छूने लगा। सीट पर उछल-कूद मचाने लगा। स्वर्ग जैसा लग रहा था सब। उसका मन खुशी से फटा जा रहा था।

इस बार वास्तव में बाकी सारे बच्चे डर रहे थे उससे। समारू आकर कहने लगा- "गबरू! मुझे नहीं बिठाओगे गाड़ी में?"

"चल हट। उस दिन तुम्हारे साह के दालान में मोटर आई थी, तो तुमने कब बिठाया था?" गबरू बोला।

ठीक इसी वक्त चेतन अपने रोते हुए बच्चे को फुसलाने के लिए मोटर के समीप ले आया। "देखो, कितनी बड़ी मोटर है, बैठोगे मोटर में?" सुनकर बच्चे ने रोना बंद कर दिया।

गबरू ने बिठाने से मना कर दिया- "किसी को बैठने नहीं दूँगा। साह ने मुझे देखभाल के लिए कहा है।"

दूसरे रास्ते से भूजा बूढ़ा आया। छड़ी को टिकाते हुए बच्चों पर कड़ककर चिल्लाया, "ससुरो! मोटर को ग्रास-ग्रासकर खा जाओ। कितनी मोटरें और देखोगे? मोटर देखते ही पगला जाते हैं।"

बूढ़े का क्रोध देखकर बच्चे इधर-उधर खिसक लिए। अकेला रह गया था गबरू अपने छोटे भाई को लेकर। बूढ़े को देखकर डर के मारे मरा जा रहा था कि तब तक बूढ़ा पास आकर बोला, "ऐसे बैठा है जैसे मोटर तेरे बाप की ही हो।" कहकर बूढ़ा चला गया। गबरू ने राहत की साँस ली।

गबरू को याद आया ऐसे ही बैठा था एक बार मोटर में। केनाल जाते समय (खरीफ-फसल के समय पश्चिम उड़ीसा में मजूरी के लिए सिंचाई इलाके से केनाल (नहर) इलाके में बड़ी संख्या में मजदूर परिवार काम

करने जाते हैं।) कितनी खुशी हो रही थी उस दिन। मन कर रहा था कि हमेशा यूँ ही बैठा रहे। चलती हुई गाड़ी में खिड़की के नट-बोल्ट को गबरू इस तरह छेड़ रहा था जैसे चलती हुई गाड़ी खराब होकर रुक जाए और वह गाड़ी में बैठा ही रहे। मगर गाड़ी क्या मानती थी? वह तो हवा की रफ्तार से उड़ी जा रही थी। पल भर में पहुँचा दिया था केनाल में।

गबरू ने अब एकांत देखकर फिर एक बार ड्राइवर की गद्देदार सीट पर उछल-कूद मचाई। और सोचा- गड्ढे और चट्टान का तो पता ही न लगता होगा इस पर। सीट को घर ले जाए, तो कितना अच्छा हो। सोते समय तकिया बन जाएगा और खाते समय पीढ़ा पर फिर सोचा- "बाप रे! ड्राइवर तो मार डालेगा।" इतने में साह के घर से ड्राइवर निकला। गबरू ने कहा, "मुझे मेरे घर तक बिठाओगे?"

"कहाँ है तुम्हारा घर?"

"साह के खलिहान में।"

"मुझे क्या पता कहाँ है तुम्हारे साह का खलिहान?"

"सड़क के किनारे। मैं बता दूँगा" गबरू ने कहा।

"ना! ना!" ड्राइवर ने जल्दीबाजी दिखाई- "देर हो जाएगी।"

तभी तमककर गबरू बोला, "अभी तक देखभाल जो मैं कर रहा था मोटर की। दे भरती (कर भरपाई)।"

"अच्छा! अच्छा! तो बैठना फिर!" ड्राइवर ने बिठा लिया। आखिर गबरू सफल रहा।

घर के मुहाने पर गाड़ी से उतरा तो गबरू की छाती फूलकर दुगुनी हो गई। इतनी छोटी उम्र में खुद बैठा और भाई को भी बिठाया है मोटर में उसने। दौड़कर माँ को शुरू से अंत तक सारी बातें बताई। रात को खाते समय माँ ने बापू से कहा, "पता है? आज दोनों भाई साह के दालान से यहाँ तक मोटर में बैठकर आए हैं।" बापू ने पूछा- "क्यों रे? डर नहीं लगा?"

गबरू ने जवाब दिया- "शेर है कि भालू, जो डर लगेगा?"

"ड्राईवर अपने साथ ले जाता तो?"

"तो क्या होता? उससे कहता, ड्राइवरी सिखा दे। भाई को टिकटमास्टर या खलासी बनाता। मोटर में सोते, मोटर में खाते, हगने-मूतने भी जाते तो मोटर में।" माँ बीच में ही खुशी से बोली, "वाह रे मेरे मोटरवाले।" और दूसरी बार चावल परोसते हुए कहा, "ले खा ले।"

इति दुविधा कथा

चार तंदूरी रोटी के साथ एक फुल प्लेट फ्रायड चिकन लाने का ऑर्डर देने के बाद संतोषबाबू को याद आया कि आज सोमवार है; वे आमिष नहीं खाएँगे। जीभ दाँतों तले दबा ली उन्होंने। जीवन के पचास वर्ष बीत गए, सोमवार को कभी आमिष छुआ तक नहीं। आज यह कैसा पागलपन सवार हुआ है?

बॉय आर्डर लेकर अंदर चला गया। बूढ़ा मालिक- "साहब यहाँ आ जाइए, साहब यहाँ आ जाइए" कहकर एक हेलमेट लिए हुए दंपत्ति को संतोषबाबू की सीट के सामनेवाली सीट पर बिठा गया और दाहिना हाथ कटा छोटा बॉय आर्डर आने की पूर्व सूचना स्वरूप पानी का गिलास और नमक मिर्च की प्लेट लाकर संतोषबाबू की टेबुल पर रख गया। संतोषबाबू ने भी एक गर्म जेबवाले ग्राहक के अंदाज में, हालाँकि गरमी अधिक नहीं थी, टेबुल साफ करनेवाले बॉय को पंखा चलाने को कहा और 'ओह' कहकर अपनी कुर्सी पर हाथ-पैर पसारकर मुरदे से पड़े रहे कुछ देर। इतना सब होने के बावजूद पहलेवाले बॉय को बुलाकर 'चिकन फ्राय' के बदले 'बैंगन भर्ता' का आर्डर देना कहाँ तक उचित होगा यह तय न कर पाकर इस वक्त संतोषबाबू घोर संकट में पड़ गए।

बाबा अखंडलमणि को बावन सोमवार का उपवास और एक सौ चार जल चढ़ाने के बाद माँ को जिस पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई थी, वह थे संतोषबाबू। उसी दिन से माँ ने नियम बना लिया था कि दूसरे दिनों में कुछ बने या न बने सोमवार के दिन घर में आमिष नहीं आएगा। एक बार जब अनजाने में मछुआरी बुढ़िया आमिष की टोकरी लिए दरवाजे तक चली आई तो कितना झगड़ा हुआ था उसके साथ। बुढ़िया के जाने के बाद जहाँ टोकरी रखी थी वहाँ माँ ने गंगाजल डालकर पवित्र किया था। आज माँ स्वर्ग में है। सब कुछ देख रही है वहाँ बैठी-बैठी। और संतोषबाबू ने यहाँ चिकन का ऑर्डर

दिया है, फ्रायड चिकन। क्या श्राप नहीं पड़ेगा उन पर?

नहीं, बॉय को बुलाकर ऑर्डर कैन्सल करना होगा। काफी सोच-विचार कर उन्होंने यह निर्णय लिया है। पर मना करना क्या कम मुश्किल है? 'एक बार दिया गया ऑर्डर बदला नहीं जाएगा' का बोर्ड हालाँकि कहीं नहीं लगा था, फिर भी होटल का यह एक अनलिखा नियम है। मौका मिला है सोचकर बॉय जोर-जोर से कई बातें सुनाएगा, और उससे अधिक न कहने योग्य बातें मन ही मन बड़बड़ाएगा।

संतोषबाबू ने गाल पर हाथ रखा। दाँतों से होंठ दबाए, पलकें गिराए बगैर अस्थिर पंखे और स्थिर बल्ब को देखते रहे। फिर भी चिकन फ्राय का ऑर्डर बदल दें या खा लें यह तय नहीं कर पाए।

मना कर देंगे बॉय को। कुछ कहता है तो कहे। सह लूँगा तो कौन सा छोटा हो जाऊँगा! बड़े लोग सह लेते हैं, बोलनेवाला ही छोटा रह जाता है। और फिर इतनी बड़ी प्रतिज्ञा भी तो रह जाएगी। आँखों के इशारे से उन्होंने बॉय को बुलाया। इशारे से बॉय ने भी जवाब दिया कि उसने संतोषबाबू का इशारा समझ लिया है और वह थोड़ी देर में उनके पास आएगा।

जबसे पिताजी ने खटिया पकड़ी है, पत्नी बच्चों के साथ गाँव में ही रहने लगी है। बच्चों के साथ मिलकर खेत-खलिहान देखने के साथ ही अब तक खेत-खिलहान देखनेवाले बूढ़े पिताजी की देखभाल भी करती है। और इधर संतोषबाबू का होटल में खाना शुरू। बुढ़ऊ जब तक हैं तब तक इससे मुक्ति कहाँ। इसमें छह महीने लग जाएँ या साल भर। दोपहर को दफ्तर के सामनेवाला भक्तमणि होटल और रात को क्वार्टर के सामनेवाला नीलमणि होटल। दोपहर में फुल प्लेट भात, हाफ दाल, हाफ सब्जी दो रुपए अस्सी पैसे, रात को चार रोटी, हाफ सब्जी दो बीस। आखिरी रोटी मुफ्त में मिलनेवाली तीसरी बार के प्याज और दूसरी बार की चटनी के साथ धँसाते हुए पेट के अंदर भेजने की अथक कोशिश, वह भी कभी-कभी बिना पानी के गिलास के गले में फँसने की आशंका। देश इस बीच मुद्रास्फीति, महँगाई एवं आर्थिक संकट के कई उठा-पटक खेल खेल चुका है पर संतोषबाबू के होटल का बिल जितना था ठीक उतना ही है। जरा भी उतार-चढ़ाव नहीं है उसमें। अब तो यहाँ तक हो चुका है कि बॉय बिना पूछे रख जाते हैं खाना। बिल बताते समय उनके मुँह से तुरंत निकल जाता है दो अस्सी और दो बीस। कभी-

कभार पाँच रोटियाँ होने पर भी बिल उतना ही बताते हैं बॉय। संतोषबाबू खुश होते हैं, ठीक ठगा है स्साले को।

सबसे ज्यादा चुभती है नीलमणि होटल के बॉय की बातें। भक्तमणि होटल का बॉय भद्र है। नीलमणि होटल का बॉय चिढ़ाने सा कहेगा, "क्यों साहब, चार रोटी और हाफ सब्जी।" क्यों भई, मैं चार रोटी खाऊँ या आठ डबल रोटी खाऊँ, तुम्हें उससे क्या? मानो लोग ज्यादा खाएँगे तो इसे भी हिस्सा मिलेगा दो रुपए। तू तो नौकर है, नौकर की तरह रह। संतोषबाबू मन ही मन सोचा करते ये सब। जबान पर नहीं लाते। सामने की सीट वाले लोग कहीं कुछ समझ न लें इसलिए चेहरे पर मुस्कुराहट बिखेरे रहते। बात का रुख बदलते हुए कभी-कभी कहते भी, "अब यह मसालेदार मांस की तरकारी सूट नहीं करती।"

दो महीने पहले उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि कुछ नहीं तो तनख्वाह वाले दिन वे पुड़ी-पुलाव खाएँगे, तंदूरी चिकन खाएँगे। जो जी चाहेगा वही खाएँगे। आवश्यक हुआ तो प्लेट में छोड़ भी देंगे थोड़ा-बहुत। बॉय जाने, उसका मालिक जाने, दूसरे लोग भी जानें कि वह कोई कम नहीं हैं। पर पिछले महीने तनख्वाह मिलने से दो दिन पहले उनकी साइकिल का टायर फट पड़ा। अंतिम क्षण में संतोषबाबू को अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। साइकिल ठीक करवाने के बाद उन्होंने दूसरी बार प्रतिज्ञा की– और भी ज्यादा कठिन प्रतिज्ञा। अगले माह टायर तो क्या पेट फट पड़े तो भी वे चिकन खाएँगे। अवश्य खाएँगे चिकन। आज तनख्वाह मिलते ही भक्तमणि होटल में पुड़ी-पुलाव खा चुके थे और रात के चिकन फ्राय के लिए दौड़े आए थे नीलमणि होटल में।

'क्या साब!' बॉय ने आकर पूछा। संतोषबाबू संभलकर बैठ गए। बॉय की आवाज में लापरवाही का भाव था। शायद समझ गया है कि साहब ऑर्डर कैंसल करेंगे। मन ही मन जवाब भी तैयार कर चुका होगा कि 'मैंने भी सोचा आज साब ने चिकन फ्राय का आर्डर कैसे दे दिया। आपका तो चार रोटी और हाफ सब्जी, क्यों!'

संतोषबाबू गंभीर हो उठे। क्या समझ रखा है उन्हें इस लौंडे ने। सौ रुपल्ली की नौकरी, तिस पर... सभी उसे नौकर लगने लगे। जाने दो पंद्रह रुपए पानी में। इज्जत बड़ी है या पैसा? 'एक प्लेट गोभी की सब्जी भी लाना साथ में।' कुछ चढ़े हुए स्वर में ऑर्डर दिया गया। सामनेवाली

सीट के लोग भी जानें कि वह कंजूस नहीं हैं। बॉय वापस जा रहा था। उन्होंने पीछे से आवाज दी, 'सुना, हाफ नहीं, फुल प्लेट सब्जी।' आश्चर्य में पड़ गया होगा लौंडा। अंदर जाकर कहेगा, अरे वाह! बड़ा खर्चीला आदमी है। शायद यह भी सोच सकता है, कहीं पागल तो नहीं हो गया बुढ़ऊ। कभी हाफ सब्जी से ऊपर नहीं जाता, आज न जाने क्या-क्या आर्डर करने लगा है। शायद ऊपरी मिल गया है आज ऑफिस में। 'चलो छोड़ो, उसे जो कुछ सोचना है सोचता रहे। बस हमें कुछ नहीं सोचना है।' यह सोचने के बाद संतोषबाबू फिर से सोचने लगे उस बारे में।

अब सारे सोच-विचारों के बीच उन्हें प्यास लग आई। परंतु कहीं भूख न मर जाए सोचकर सिर्फ एक घूँट पानी पिया और गिलास यथास्थान रख दिया। उसके बाद उनके सामने बैठे दंपति की हँसी सुनाई देने पर संतोषबाबू की निगाह उस ओर गई। कहीं उन्हें देखकर तो नहीं हँस रहे, यह जानने के लिए चोरी-चोरी देखा भी उनकी ओर। कुछ पल देखने के बाद वे निश्चिंत हो गए कि वह दंपति संतोषबाबू पर नहीं, बल्कि एक-दूसरे की बातों पर हँस रहे हैं। अपने आप में वे लोग इतने मशगूल हैं कि थोड़ी देर पहले कुछ ऊँची आवाज में दिया गया फुल प्लेट सब्जी का ऑर्डर भी शायद सुन नहीं पाए हैं। उन पर नहीं हँस रहे हैं जानकर संतोषबाबू जितना आश्वस्त हुए, 'फुल प्लेट' का ऑर्डर नहीं सुन पाए होंगे सोचकर दुख भी उतना ही हुआ।

इस वक्त अचानक पैसे की बात याद आते ही हाथ डाले बगैर वे जेब टटोलने लगे। आजकल इस कदर फैला है जेबकतरों का राज कि किस पर विश्वास करें? पैसे हैं सोचकर जी भर खा जाओगे, बिल देते समय पता चला कि जेब खाली। कॉलेज के दिनों की बात है। लेक्चरर दास साहब ने अपने पूरे परिवार को चंद्रमणि होटल में छककर रबड़ी, कचौड़ी, पकौड़ी इत्यादि सारी स्वादिष्ट चीजें खिलाने के बाद जब बिल चुकाने के लिए जेब में हाथ डाला, जेबकतरों की कैंची से आधी जेब कटी हुई थी। लेक्चरर था इसलिए होटलवाले ने कुछ नहीं कहा, कोई और होता तो?

'अरे संतोषबाबू! आज इतनी देर?' उनके दफ्तर के परिमल पंडा ने होटल में घुसते समय चौंकते हुए कहा और कहने के बाद फसर-फसर केबिन की ओर चला गया। जरा भी समय नहीं दिया उत्तर देने के लिए। जी कर रहा था कहने को, 'हाँ, चिकन फ्राय का ऑर्डर दिया है ना, कुछ

देर तो लगेगी ही। सब ठीक-ठाक है ना?' यह मौका भी निकल गया! परिमल पंडा सुनता, इसके अलावा उस समय न सुन पाए हँसोड़ दंपति भी सुन लेते।

कहते हैं परिमल पंडा ने बॉय को पटा रखा है। महीने में सौ रुपए। इसीलिए केबिन में बैठता है। रसगुल्ले, मांस, पुलाव जो भी मन होगा खा लेगा। बिल देते समय साढ़े छह या सात रुपए। काश, संतोषबाबू ने भी पटाया होता। यह योजना कोई नई नहीं है। पहले भी दो-तीन बार सोचा है इस बारे में। परंतु दो बीस के बिल को और कितना कम करके बताएगा बॉय? पंद्रह रुपए को साढ़े छह या सात करना जितना आसान है, दो रुपए बीस पैसे को डेढ़ रुपए भी करना उतना आसान नहीं। खैर छोड़ो।

पंडा को मन मुताबिक सीट भी तो मिली है दफ्तर में। दिनभर समेटता जाता है, स्साला। कुछ नहीं तो दिनभर में सौ रुपए से कम नहीं है ऊपरी। कुर्सी टूट जाए तब भी अपनी सीट नहीं छोड़ेगा पंडा। दस बजे से पाँच बजे तक क्या, सुबह दस बजे से रात के दस बजे तक भी कहा जाए तो वह चिपका रहेगा वहाँ। भोईबाबू कहते हैं कि यह सीट की महिमा नहीं है, बल्कि यह तो परिमल पंडा की विशेष योग्यता है। उस सीट पर वह खुद बैठता था दो साल पहले। धेलेभर का सपना तक नहीं था उस समय। आज परिमल पंडा के बैठते ही कामधेनु बन गई है वह सीट। सच ही तो है। नौकरी के लिए जितनी योग्यता चाहिए, ऊपरी के लिए भी उतनी ही चाहिए। संतोष धर तुझसे नहीं होगा यह सब। सोच-सोचकर केवल अपना जी दुखाओगे। वरना आज तू भी राजदूत अच्छी है या येज्दी उस बारे में चर्चा करता होता, तेरे बच्चे रंगीन टीवी में 'सिरीयल' देखते होते और ट्यूब फटने जैसे छोटे से अपराध के लिए साइकिल तेरी बँधी नहीं खड़ी रहती दस दिनों तक। इस निष्कर्ष तक पहुँचने पर संतोषबाबू ने पुनः एक घूँट पानी पिया, बाएँ हाथ से दाढ़ी सहलाई और कुर्सी से टिकते हुए राहत भरी जमुहाई ली।

'साव, थोड़ी सी गलती हो गई। केवल चिकन या सब्जी भी साथ में।' बॉय निकट आकर चोर सा खड़ा हो गया। सोच रहा था कि शायद अब संतोषबाबू गुस्से से आग-बबूला हो उठेंगे। कुछ नहीं तो मुँह बनाते हुए कहेंगे, सातो कांड रामायण खत्म हो गया, अब पूछता है कि सीता मर्द थी या औरत...। किंतु संतोषबाबू नाराज नहीं हुए। पानी के आधे गिलास

की ओर संकेत करते हुए बोले, 'पहले पानी।' आश्वस्त हो बॉय पानी लेने चला गया।

एक मौका मिला है। अब तो बॉय भी खातिर करने लगा। क्या कह दें उससे कि केवल सब्जी? कुछ भी हो, आखिर बड़ों की बात तो माननी ही चाहिए। यदि आज आमिष नहीं खाया तो कौन सा तूफान आ जाएगा? अरे नहीं, सब याद होगा उसे। कहीं मजाक न कर रहा हो उनसे। दुनिया भर के लोगों का आर्डर दे गया, और जब उनकी बारी आई तो भूल गया। शायद उसे विश्वास नहीं हो रहा होगा कि इस आदमी की चिकन फ्राय खाने की ताकत है। यदि उसे पास बिठाकर सारी बातें साफ-साफ कह दें तो? आखिर वह भी आदमी ही तो है। क्या समझ नहीं पाएगा? 'सुनो भाई! क्लर्क की नौकरी। काफी खींच-तानकर महीना जाता है। कभी आमिष खाना संभव नहीं होता। इसलिए कम से कम जिस दिन तनख्वाह मिलती है...। इत्तफाक से आज सोमवार है। आज का दिन माफ कर दे कल जरूर ऑर्डर दे दूँगा। पैसे की बात नहीं है। आज तनख्वाह जो मिली है।' एक ही साँस में कह जाऊँगा सब कुछ। यदि उसे विश्वास नहीं होगा तो तनख्वाहवाले नोट निकालकर दिखा दूँगा बॉय को। और यदि इतने पर भी न समझें, कुछ ऊट-पटाँग बकने लगे? पीछे मुड़कर देखते हुए हँसने लगे? केबिन में जाकर परिमल पंडा से कह दे? तब तो कल दफ्तर में पैर तक रखना मुश्किल हो जाएगा। खैर छोड़ो।

संतोषबाबू ने कड़क होने की कोशिश की। हँह, होटल बॉय ही तो है। उसके आगे क्या घिघियाना। हमारा पैसा है, क्या खाएँगे क्या नहीं खाएँगे, हम ही ना तय करेंगे। यदि नहीं खाना है तो क्यों नहीं करेंगे ऑर्डर कैन्सल? स्साले चिकन के नाम पर कबूतर, कौआ, तीतर-बटेर न जाने क्या-क्या फ्राय कर जाते हैं, तिस पर भी एक प्लेट पंद्रह रुपए। जैसे कि पानी में बह रहा हैं हमारा पैसा। 'नहीं चाहिए मुझे चिकन। केवल सब्जी लाओ।' नशीली सी आँखें करके वे चिल्लाएँगे। पूरी तरह डर जाएगा वह बॉय। इसके बावजूद यदि उसने मुँह खोला तो गाली-गलौज भी करेंगे। जरूरत पड़ी तो दो हाथ कस भी देंगे। जो होगा देखा जाएगा। अकेले इन्होंने ही नहीं खोला है होटल इस दुनिया में।

बेटी मिनी की परीक्षा है अगले माह। काफी दिनों से फरमाइश कर चुकी है कि परीक्षा के समय उसे एक सूट चाहिए। उसकी सभी सहेलियाँ

पहनती हैं। बेटी गाँव में माँ के साथ रहकर माँ के कामों में हाथ बँटाती है, जरूरत पड़ने पर लड़की होकर खेत-खलिहान का काम करने से भी नहीं हिचकती, रोजाना चार किलोमीटर दूर हाईस्कूल पढ़ने जाती है, फिर भी कहती है, 'बप्पा, फर्स्ट क्लास लिए बिना नहीं छोड़ूँगी।' वाकई कितना आत्मविश्वास है बिटिया में। अब ऐसे में यदि पिता होकर संतोषबाबू उसे एक सूट नहीं दिला पाए तो क्या बीतेगी उसके दिल में? परसों संतोषबाबू लाला की दुकान में कपड़ा भी देख आए हैं। सत्तर रुपए का। आसमानी रंग उससे भी अच्छा है। नब्बे रुपए का। बीस रुपए अधिक। आज यदि चिकन न खाऊँ तो पूरे पंद्रह रुपए बच जाएँगे। छोड़ो चिकन। अगले महीने खाया जाएगा। बच्चों की परीक्षा भी खत्म हो चुकी होंगी। बड़ी दीदी के गाँव आकर पिताजी की देखभाल करने पर बीवी-बच्चे सभी के साथ बैठकर खाने में जो मजा है, भला इस तरह अकेले खाने में कहाँ?

बॉय ने गिलास में पानी डालने के बाद कहा, 'साब।'

संतोषबाबू ने तपाक से कहा, 'चिकन कैन्सल। सिर्फ सब्जी।' कहने के बाद उन्होंने अपने चारों ओर नजर दौड़ाई। कुछ लाज, कुछ भय, कुछ दुख और कुछ ग्लानि भरी एक मिली-जुली नजर थी वह। ऐसा लगा जैसे कि सभी देख रहे हैं उन्हें, सभी सुन रहे हैं उनकी बात। मालिक से नौकर तक। जो लोग नहीं भी देख रहे, उन्हें मालूम है सब कुछ। न जानने, न सुनने का दिखावा भर कर रहे हैं। मानो संतोषबाबू से कोई गलती हो गई है– बहुत बड़ी गलती। बाथरूम में निर्वस्त्र नहाने की गलती। सबने देखा है यह नंगा दृश्य और सबसे बड़े दुख की बात तो यह है कि संतोषबाबू को भी मालूम है सबका यह देखना। लोगों को समझाने के लिए अब उनके पास भाषा नहीं है- क्यों वे इस तरह नहा रहे थे या फिर क्यों नहीं नहाना था उन्हें इस तरह?

इसके अगले दृश्य में बॉय रोटी-सब्जी का ऑर्डर लेकर आ रहा था, सामने की सीटवाले दंपति खाते समय बीच-बीच में अपनी-अपनी कोहनी से कोंचा-कॉंची और बाएँ हाथ से चिकोटी काटने में व्यस्त थे, संतोषबाबू भूख मारने के लिए गट-गट पानी पीते जा रहे थे और परिमल पंडा नशे में झूमते हुए हिचकियाँ ले-लेकर रूमाल से हाथ पोंछते हुए केबिन से निकल रहा था।

पाटपुर चौक

पाटपुर चौक। इलाके के आठ-दस गाँवों का बस स्टैंड। ट्रक, बस और एस.बी.आई के ऋण चिन्हवाली कुछ जीपों को छोड़ साइकिलों, बैलगाड़ियों की भी विजय यात्रा इस चौक पर। पास ही पी.डब्लू.डी का ऑफिस। इन सबके ऊपर आश्रित मनोहर बगर्ती की पान की दुकान और सरदारजी की 'यहाँ साइकिल, मोटर साइकिल की मरम्मत होती है' साइनबोर्ड लगी दुकान। घर में थोड़े बहुत पैसे आ जाने पर गबरू हलवाई भी बड़ों और पकौड़ियों की अपनी दुकान खोलकर बैठ जाता है चौक पर। लेकिन भादो दशहरा की तंगी में वह दुकान चला नहीं पाता, उसकी दुकान यात्रियों के लिए प्रतीक्षालय में परिवर्तित हो जाती है।

मनोहर और सरदारजी को छोड़ जो तीसरा आदमी इस कहानी में आता है वह है 'मास्टर' या 'मास्टरजी' यानी मैं। दस बजे स्कूल जाते वक्त रास्ते में ही पड़ता है पाटपुर चौक। चौक पर मनोहर, सरदारजी और मास्टर बैठ जाते हैं। गाँव से लेकर शहर तक की सारी चर्चाएँ होती हैं। बातों ही बातों में कभी-कभी ग्यारह भी बज जाता है। गाँव का स्कूल है इसीलिए फर्क नहीं पड़ता। लेकिन आजकल के लड़कों ने क्या एक विलेज समिति बनाई है, कहते हैं शिकायत करेंगे।

एक दूसरी जगह पर भी तीनों मिलते हैं। वह है डेबरीपुर गाँव। चौक से एक आध मील का रास्ता होगा डेबरीपुर गाँव का। उसी डेबरीपुर से तीनों आते हैं, लेकिन कोई भी उस गाँव का नहीं है। बीस-पच्चीस साल से सरदारजी आकर रह रहे हैं। इसी गाँव में मनोहर के मामा का घर है। मामा की लड़की से शादी कर घरजमाई बन वह वहाँ रह रहा है। उससे पहले मामा के घर रहकर पढ़ाई कर रहा था। और मैं? पाँच साल पहले मेरा तबादला जशीपुर से लक्षीपाली हुआ, तबसे मैं डेबरीपुर में हलवाई बुड्ढी को दस रुपए किराया देकर एक छोटे से कमरे में रह रहा हूँ, साथ

में मेरी पत्नी यानी यशोदा।

हममें से कोई डेबरीपुर का न होने पर भी वहाँ की दशहरा पूजा में चंदा देते हैं। गाँववालों के साथ मिलकर नवान्न मनाते हैं। (नूआ खाई नामक पर्व में पश्चिम ओड़िशा के लोग नए चावल को भगवान के सामने नैवेद्य के रूप में अर्पित करते हैं और फिर सारे गाँववाले मिलकर उसी चावल को खाते हैं।) लक्षीपुर और डेबरीपुर के बीच फुटबाल मैच होता है तो डेबरीपुर के जीतने पर खुशी में नारियल भी फोड़ते हैं। गांव की पंचायत में हमारे कुछ कहने पर कोई ये नहीं कहता कि तुम बाहरवाले हो"। सरदारजी के 'तुम गया' या 'आप आया' जैसी ओड़िआ और दाढ़ी, पगड़ी को छोड़कर गाँव के समारू, छेलिआ और उनमें कोई अंतर नहीं है।

महीने में एक-आध बार हम तीनों मिलकर बरगड़ जाते हैं, सिनेमा देखने। काँटा बाँध के छोर पर पिकनिक मनाते हैं। सरदारनी गुस्से में बोलती, "पैसे बरबाद करते हो।" यशोदा बोलती है कि वह भी हमारे साथ सिनेमा देखने जाएगी। मनोहर के रोज के ग्राहक नाराज होते हैं। फिर भी हम तीनों को निकलना है, मतलब निकलना है। हम किसी की परवाह नहीं करते।

कभी-कभी सरदारजी पखालुआ (चावल में पानी डालकर खानेवाले) ओड़िआ को गाली देता है। कहता है, "खाने के बाद अगर नहीं सोएगें तो जैसे सालों की जान निकल जाएगी। साले कमाओगे तब न खाओगे?" हम बोलते हैं, "सरदारों के भेजे में गोबर ही गोबर है। जितना भी कमाओ उससे क्या फर्क पड़ता है।" वह भी हँसता है, हम भी हँसते हैं।

उस दिन मास्टर का कॉलेज में पढ़नेवाला साला आया था, चुपके से मास्टर के कान में उसने कहा, "सरदारजी को सरदारजी कहकर नहीं बुलाना चाहिए। वे बुरा मान जाते हैं। अगर नाम पता नहीं है तो ज्ञानीजी क्यों नहीं कहते?" सुनकर मास्टर देर तक हँसता रहा। "सरदारजी को क्यों बुरा लगेगा? अगर लगेगा तो पहले से बता नहीं देगा?" सरदारजी को जब इस बात का पता चला तो वह भी हँस पड़ा। उसने कहा, "पढ़े-लिखे बच्चों की नई-नई बातें हैं।"

दोपहर को बसवाला स्कूल में आनेवाला 'समाज' अखबार चौक में ही देकर चला जाता है। शाम को सरदारजी उसको लेकर मास्टर के यहाँ आते हैं। अगले दिन उसे स्कूल में देने से पहले मास्टरजी कुछ गिनीचुनी

खबरों को जोर-जोर से पढ़ते हैं। सुननेवालों में सरदारजी, यशोदा और मनोहर। पहले मनोहर रोज आता था। लेकिन पिछले साल शादी होने के बाद, कभी-कभी नहीं भी आता। पूछने से कहता है, बहुत झमेले हैं। नई-नई शादी हुई है न!

"सरदारजी सुनो, काठजोड़ी में युवती द्वारा आत्महत्या।" यशोदा सुनकर बोलती है, "आहा...हा...हा...च...च...च" मनोहर बोलता है "छोकरी को दूल्हा नहीं मिला क्या?" सरदारजी कहता है, "अच्छा अच्छा।"

प्रधानमंत्री कह रहे हैं विदेशी आक्रमण का भय। सरदारजी जवाब देता है, "कहने को और कुछ न हो तो क्या बोलेगा?" यशोदा बोलती है, "बाप रे रोज तो यही एक ही बात कहते हैं!" मनोहर बोलता है, "सालों का कुछ नहीं है। बरगढ़िया लाठी से मारो सालों को तब जाकर इनका दिमाग ठिकाने आएगा, सही बोलेंगे।"

"सरदारजी तुम्हारे देश में तो आजकल बड़े झमेले हो रहे हैं। दोनों पार्टियाँ एक-दूसरे से जमकर लड़ रही हैं।" मास्टर के मुँह की बात छीनते हुए सरदारजी बोलता है, "इसीलिए तो मैंने देश छोड़ा। लड़ाई होगी दो राजाओं के बीच और मरेंगे अपने लोग।"

"आजकल अकाली पार्टी नाम का एक संगठन निकला है। जो बोल रहे हैं देश फिर से दो हिस्से में बँटेगा। अपने देश में अपने लोगों का ही राज होगा।"

"अपने लोगों का राज हो, इसमें बुराई क्या है? किसने मना किया है? इसके लिए देश को तोड़ने की क्या जरूरत है?" अपनी बातों को थोड़ा सा विराम देता हुआ सरदारजी फिर बोलता है, "छोड़ो भी कौन अपना और कौन पराया। कुर्सी मिलने से सभी एक जैसे बन जाते हैं।"

यशोदा कहती है, "मुझे तो लगता है हमारे गाँव की राशन की चीनी की दुकान जैसी बात है। धनिया को राशन की दुकान मिल जाती है तो लालसाहब लोगों को भड़काता है। अगर लालसाहब को मिल जाती है दुकान तो धनिया शोर मचाता है कि लालसाहब चीनी बिलाक कर रहा है। पर दुकान किसी को भी मिले हमें वही आधा केजी की आधा केजी चीनी ही मिलनी है।"

"सरदारजी ये भिंडरवाले कौन हैं आपको पता है?" मास्टर समाज का पन्ना पलटता है।

"कहीं साइकिल की दुकान डाल रखी है क्या?" सरदारजी ने उलटे पूछा।

"ना ना, तुम्हारा भिंडरवाला तो देश को बाँटने की बात कर रहा है।"

"तुम्हारा भिंडरवाला तुम्हारा भिंडरवाला क्या लगा रखा है मास्टरजी, क्या वह मेरा बाप है या दादा?"

मास्टर फिर 'जेल से फरार कैदी' या 'बस दुर्घटना' जैसे समाचार के साथ छपे फोटो को दिखाता है। सरदारजी बोलता है, "साला खुद तो भागा। साथ में और दो चार लोगों को लेकर भाग जाता।" यशोदा अपने खुल गए बालों को जूड़े में बाँधती हुई बोलती है, "गाड़सुआ (गड्ढे में गिरकर मरने के अर्थ में एक गाली) ड्राइवर ने शराब पी रखी होगी...।"

बात करते-करते गाँव में ही देर रात हो जाती है। हलवाई बुड्ढी नींद टूटने पर पेशाब करने के लिए आँगन में आती है।

मनोहर जम्हाई लेता है। सरदारजी बोलता है, "मैं चला।"

"सरदारजी थोड़ा प्रसाद खा लो। मूँग का हलवा। आज मेरा एकादशी का व्रत था।" यशोदा बोलती है।

"सरदारनी के लिए भी थोड़ा सा दे दे। प्रसाद उसे बहुत अच्छा लगता है।" मैं जोड़ देता हूँ।

उस दिन हलवाई बुड्ढी शाम को घर लौटी और रोते-रोते कहने लगी, "इंदिरा गांधी मर गई। देश बरबाद हो गया। कल्कि अवतार लिए भगवान काले और सफेद घोड़े पर चढ़कर आ रहे हैं। सबको मार डालेंगे। कहते हैं बरगद तक पहुँच गए हैं। हे भगवान अब हमारा क्या होगा?"

बुड्ढी चिल्ला-चिल्लाकर रो रही थी।

यशोदा ने पूछा, "आपको किसने बताया?"

"पंडा घर का रेडियो दो-दो बार कह चुका है। समारू की माँ सारी बात सुन के आई है।"

यशोदा और मास्टर, हलवाई बुड्ढी की बातों पर भरोसा ही नहीं कर पाए। तीन चार सालों से बुड्ढी ऐसा ही कहती आ रही है। ऐसा कहने के पीछे कारण भी है। कुछ सालों से अपंग बूढ़े-बूढ़ियों को हफ्ते में दो-तीन सेर चावल पंचायत से मिलता था। पिछली बार वोट के समय में प्रधान के घर के लड़के ने बुड्ढी से आकर कहा, "इंदिरा गांधी ये चावल दे रहीं हैं, अपनी उम्र के राँड और रँडुओं को तो वह अपने खेत का ही

अरुआ चावल देती हैं लेकिन कटकिया (कटकवाला) बी.डी.ओ. बिलेक कर मिल का खराब चावल बाँटता है। अगर इंदिरा गांधी चली गई तो कौन देगा चावल?"

बुड्ढी ने ये सुनकर खाली इंदिरा गांधी को वोट ही नहीं दिया था बल्कि रोज उसके नाम पर शिव मंदिर में पानी भी चढ़ाती थी। नतमस्तक हो प्रार्थना करती थी, "हे भगवान। इंदिरा से पहले मुझे उठा लेना प्रभु। सौ साल जिंदा रहे वह बेचारी! ऐसे ही उसे वोट मिलता रहे प्रभु!"

फिर भी खाना-पीना खत्म कर मैं पंडा घर की तरफ निकल गया। रेडियो सुनने के लिए। पूरे गाँव में दो ही रेडियो है। हमारे रेडियो का मसाला (बैटरी) खत्म हो गया था। पूरे घर में लोग भरे पड़े हैं। खबर सुनने के लिए। इंग्लिश में कहेगा अभी। तो क्या फिर बुड्ढी की बात सच है! मुझे देख लोगों ने रास्ता छोड़ दिया। पूरे गाँव में पंडा और मास्टर ही केवल इंग्लिश समझ सकते हैं।

–खबर खत्म हुई। मैंने कहा, "इंदिरा गांधी के द्वारपालों ने आज सुबह उसे मार डाला है। दो नलवाली बंदूकों से।"

–पंडा ऊँचे स्वर में बोला, "कहो सरदारों ने मार डाला। जो उत्पात मचा रखा है सालों ने!"

"कवच नहीं पहन रखा था क्या?" समारू ने पूछा।

भवना ने कहा, "सुना है नहा के वह अपनी साड़ी बदल रही थी तब उस पर गोली दाग दी।"

–परसों हमारी बबलू की माँ बोल रही थी, पुच्छल तारा दिख रहा है, विकल ने कहा।

बड़मरा ने जवाब दिया, "उस साल भी ऐसे ही पुच्छल तारा दिखाई दिया था, मरा नहीं गौंतिया बुड्ढा।"

पीछे से किसी ने कहा, "जितना बड़ा आदमी उतनी ही ज्यादा विपत्ति। बस माँड़-भात खाकर घर में पड़े रहो, यही सबसे अच्छा है!"

लोग वहाँ बैठे हुए थे। यशोदा को खबर सुनाने के लिए मैं वहाँ से उठ आया।

दूसरे दिन गाँव जैसे का वैसा था। इंदिरा गांधी के मरने की छाप कहीं नहीं थी। सुबह मुर्गे ने बांग दी। खरिआर रोडवाली गाड़ी से जाने के लिए लोग पाटपुर चौक निकले। चरवाहे अपनी गाय-भैंसों को निकालने

लगे। रंगू की माँ ने जवा काली के साथ झगड़ा किया और मैं भी दस बजे स्कूल निकल गया।

स्कूल में भी वही चर्चा थी। दिल्ली में मारकाट शुरू हो गई है। मंत्री लोग भी शायद आपस में लड़ रहे हैं, इंदिरा की कुर्सी पर कौन बैठेगा।

शाम को लौटा। पाटपुर चौक पूरा सुनसान था। सरदारजी की दुकान नहीं थी। दुकान के लोहे-लश्कर पर बस राख का एक ढेर था। मनोहर की पान की दुकान भी आधी जल गई थी। मास्टर को कुछ समझ में नहीं आ रहा था। किससे पूछे, कोई वहाँ था ही नहीं।

साइकिल से आगे बढ़ा। रास्ते पर दो साइकिल सवार आदमी राह चलते किसी से बात करते हुए जा रहे थे। "आह! आदमी जैसा आदमी था बेचारा!"

कोई कह रहा था, "बरगढ़ से गुंडे आए थे, एम.एल.ए. ने भेजा था। ऊपर से आर्डर मिला है, जो जितने सरदारजी मारेगा, वह उतनी जल्दी मंत्री बनेगा। हमारे एम.एल.ए को मंत्री पद के लिए चार सरदार का कटा हुआ सर चाहिए।"

दूसरे ने पूछा, "खाली सरदारजी या सरदारनी होने से भी चलेगा?"

मास्टर के समझने के लिए और कुछ बाकी न था।

देश के विभाजित होने से किसे कुर्सी मिलेगी या नहीं, या फिर कौन मंत्री होगा या कौन विरोधी कौन जानता है, पर मास्टर और मनोहर के घर में जो रिक्तता उन लोगों ने पैदा कर दी थी उसे क्या कोई भर पाएगा?

पुरस्कार

दुकान में भीड़ नहीं थी। पकौड़े और आलू-बड़े छानने के बाद यमुना देवी चाय का पतीला धोने बैठी थी। बुला रात का बासी बचा कुछ खाकर जल्दी ही पढ़ने चला गया। और थोड़ी देर में यमुना देवी 'फीरी' हो जाएगी। तपोवनबाबू स्कूली मास्टरों का उधार-खाता जोड़ रहे थे। महीना पूरा जो हो गया था। इतने में डाकिया टेलीग्राम लेकर आ पहुँचा। तपोवनबाबू चश्मा उतारकर डाकिए को दो बार ऊपर से नीचे तक देख गए। आज तक बेला-कुबेला कभी नहीं आया टेलीग्राम। यह आज कहाँ से आ टपका? उन्होंने टेलीग्राम खोला। 'खंड मंडल स्वागत समिति' की ओर से आया था। इस वर्ष के श्रेष्ठ कहानीकार के रूप में उन्हें सम्मानित किया जाएगा। समारोह सरस्वती पूजा के दिन है। उसमें शामिल होने के लिए यह आमंत्रण।

तपोवनबाबू ने चिल्लाकर कहा, "अरे सुनती हो? कितने भाँड़ा-बर्तन माँज रही है? आ देख!"

उधर से यमुना देवी ने जवाब दिया, "अजी, क्या हुआ? रुको, आती हूँ! जरा हाथ तो धो लूँ।"

"रोजाना चिक्-चिक् करती थी ना, कागज बर्बाद करते हो। कितनी-कितनी डाक-टिकटें खरीदते हो, इस बुढ़ापे में स्कूली लड़कों की तरह न जाने क्या चरचराकर लिखा करते हो! ये देखो, पुरस्कार देने को बुलाया है।"

यमुना देवी सारा कुछ सुनने के बाद क्या कहे यह न समझ पाकर भौंचक्की सी खड़ी रही। तपोवनबाबू ने दुबारा टेलीग्राम पढ़ा। "ऐं, गाड़ी-भाड़ा भी देंगे। जाने-आने का खर्च।" अभी तक नहीं देखा था उन्होंने। मानो उनकी खुशी दोगुनी हो गई!

यमुना देवी ने टेलीग्राम का वह कागज तपोवनबाबू के हाथ से

लेकर, खुद भी दो-तीन बार उलट-पलटकर देखते हुए पूछा– "हिंदी में लिखा है क्या?"

"उहूँ, इंगलिश में।" तपोवनबाबू ने जवाब दिया।

"इसीलिए चींटी के पैर से अक्षर हैं।" यमुना देवी ने वह कागज पति की ओर वापस बढ़ा दिया।

"हँह। बोल तो ऐसे रही हो जैसे कि गोल-गोल अक्षर होते तो भजन गानें सा गाने लगती।"

यमुना देवी हँसने लगी। तपोवनबाबू भी।

"जरा ठहरो, मैं दिलीप को बुलाती हूँ। उसी से पूछूँगी सारी बातें। तुम्हारा चेहरा तो बात-बात पर तमतमा उठता है।" यमुना देवी ने दुकान से बाहर निकलकर आवाज दी, "दिलीप बेटे, जरा इधर तो आना।"

दिलीप अपनी पान-दुकान छोड़कर वहाँ जा पहुँचा। सारी बातें सुनने के बाद उसने कहा, "यह सब तो ठीक है काका, लेकिन पुरस्कार क्या मिलेगा? कहीं स्साले फूलमाला पहनाकर न छोड़ दें!"

तपोवनबाबू ने सिर हिलाकर जवाब दिया, "दो साल पहले सरंडा हाई स्कूल के हेडमास्टर को भी मिला था यह पुरस्कार। कह रहे थे कि नकद मिला था डेढ़ सौ!"

दिलीप ने कहा, "एक हाथ ले, दूसरे हाथ दे। लौटते समय इन्हीं पैसों से इस बार एक काँच की अलमारी ले आना। गिलट की थालियों में रखे बड़े-पकौड़े अच्छे लगते हैं? काँच की अलमारी लाकर दुकान में दो कुर्सी-टेबुल डाल दो। देखना, अगले दिन से ही रामकुँवर मारवाड़ी ने आकर चाय पीनी शुरू न कर दी तो मुझे किसी और की औलाद कहना।" दिलीप पीक थूकने बाहर निकला।

तपोवनबाबू ने धीरे से कहा, "सुनती हो जरा चाय तो बनाओ, तीनों के लिए।"

दिलीप ने कहा, "क्या पुरस्कार मिलने की खुशी में है यह चाय?"

यमुना देवी ने कहा, "एक बार इसका मुँह चालू हो जाए तो फिर कुछ नहीं देखता यह लड़का। ऊबड़-खाबड़ सारा कुछ समाप्त कर जाता है।"

यमुना देवी ने चाय के पतीले में पानी डालते हुए दिलीप से पूछा, "क्यों रे दिलीप, पिछले दो सालों में चीनी का दाम इतना बढ़ गया। एक साड़ी का दाम चालीस रुपया कहते हैं। तेरी दुकान का पान भी चवन्नी का

हो गया। क्या पुरस्कार का रुपया भी नहीं बढ़ा होगा?"

"मेरी काकी ने तो पते की बात कही है हो! मुझे लगता है, श्योर डेढ़ सौ से बढ़कर दो सौ रुपया हो गया होगा पुरस्कार। और जब गाड़ी-भाड़ा दे ही रहे हैं तो पाँच-दस रुपए बढ़ाकर ही कहना काका! क्या फर्क पड़ता है? कौन आया है हमारे गाँव जो उसे भाड़ा मालूम होगा?" दिलीप ने कहा।

"अरे, कोई जानता भी होगा तो क्या हुआ? कह देना एक्सप्रेस गाड़ी में आया हूँ। क्या उसमें अधिक पैसे नहीं लगते?" यमुना देवी ने एक चम्मच चीनी चाय में और डाल दी।

इतने में तीन-चार साइकिल सवार उधर आ रहे थे। दिलीप ने कहा, "मैं जरा आता हूँ। कहीं वे लोग पान खाने न उतरें।"

"बेटा, हमारी दुकान के बारे में भी उनसे कहना! देख तो, कल दिनभर में आधा किलो चीनी और पाव भर बेसन के पकौड़े खत्म नहीं हुए।" तपोवनबाबू साइकिल सवारों को देखने के लिए जरा बाहर आए। दिलीप ने जाते-जाते कहा, "मेरे हिस्से की चाय मत पी लेना काकी, मैं अभी आया।"

यमुना देवी एक प्लेट में कुछ पकौड़े रख लाई और तपोवनबाबू को देते हुए बोली, "खाली पेट चाय पीना अच्छा नहीं होता।"

"इन स्सालों को सरस्वती पूजा के दिन ही इतना बड़ा समारोह करना था? इस वर्ष दोनों स्कूलों के बच्चे जी-जान से जुटे हैं पैसे इकट्ठे करने में। पूजा के दिन हलवाई जरूर बुलाएँगे...।"

"सँभाल लेते तो बीस तीस-चालीस रुपए कहीं न जाते।" यमुना देवी ने तपोवन बाबू के मुँह से बात छीनते हुए कहा।

"तू भला अकेली कैसे सँभालेगी? और मैं इतनी दूर समारोह में क्यों जाने लगा? खुद ही भेज नहीं देंगे रुपए बाद में?" तपोवनबाबू ने कहा।

आवाज में कुछ तेजी लाते हुए यमुना देवी ने कहा, "इतना बड़ा समारोह होगा। कितने बड़े-बड़े लोग आएँगे। आज मौका मिला है तो जाओगे नहीं? कभी भी तो घर से पैर निकाल नहीं पाते। पैसे-वैसे होते तो मैं भी चलती। जरा समारोह देख आती।"

"ठीक कह रही है। हलवाई की ही न दुकान है। इसकी पहरेदारी करते-करते तो उम्र बीत गई। चलकर एक बार घूम ही आता हूँ।" यमुना देवी के हाथ से चाय का कप लेते हुए तपोवनबाबू ने कहा।

तपोवनबाबू की पीठ से चींटा हटाते हुए यमुना देवी ने कहा, "आज दिन डूबे याद दिला देना। तुम्हारा कुर्ता साबुन से धो लाऊँगी। कल सूखेगा, तभी न परसों जाओगे।"

"हाँ-हाँ, ठीक याद दिलाया। जारा से कुछ पैसे भी तो उधार लेने होंगे। गाड़ी-भाड़ा तो जब मिलेगा तब मिलेगा, अभी तो खुद जुगाड़ करना पड़ेगा।"

"कह देना उससे भी पुरस्कार के बारे में। काका-काका कहकर कितना खुश होता है वह! जब कुछ उधार माँगो, दे देता है। कभी मना नहीं करता।" यमुना देवी ने कहा।

"उसकी दुकान से सामान लाता हूँ इसलिए काका हूँ! उसके कहे अनुसार समय पर उधार चुका देता हूँ इसलिए काका हूँ! वरना कहाँ जारा और कहाँ काका!"

यमुना देवी ने कुछ चिढ़ते हुए कहा, "हर बात में टाँग अड़ाने की तुम्हारी आदत बन गई है। पुरस्कार की बात कह दोगे तो कौन सी आफत आ जाएगी? क्या छीन ले जाएगा तुमसे रुपए?"

"अरी, कहने को क्या मेरी इच्छा नहीं हो रही? लेकिन हलवाई के अलावा भला वह मुझे और किस रूप में जानता है कि उससे जाकर कहूँ– कहानीकार के रूप में मुझे पुरस्कार मिला है?" तपोवनबाबू ने चाय की अंतिम चुस्की ली– "जरा देखना तो दिलीप ने इतनी देर कैसे लगा दी?"

"और नहीं तो क्या, चाय ठंडी हो जाए तो मजा ही क्या रह जाता है?" इतना कहकर यमुना देवी ने आवाज लगाई, "अरे बेटे, जल्दी आ, चाय बरफ हो रही है।"

"कहीं ससुरा विभूति की दुकान में जाकर पुरस्कार की बात न फैला दे। साइकिल की ऑयलिंग करवाए महीनाभर भी नहीं हुआ फिरविल (फ्रीह्वील) कटने लगा। कितना हुआ पूछो तो कहता है कि सत्ताईस रुपए पचास पैसे।" तपोवनबाबू ने कहा।

"मैं साफ-साफ कहे देती हूँ। पुरस्कार के रुपए से साइकिल ऑयलिंग या जारा की दुकान का उधार चुकाए तो समझ लो! सारा पैसा मुझे देना। मैं बताऊँगी क्या करना है।"

खुशी मिले गुस्से में तपोवनबाबू ने जवाब दिया, "तुम्हें तो महारानी जैसा लग रहा होगा ना!"

उधर से दिलीप ने आते हुए कहा, "काका, मेरी बात मानो। काँच की अलमारी ले आना। पैसे बचे तो लगे हाथ कुछ स्टील की थालियाँ भी।

दिलीप के मुँह से बात छीनते हुए तपोवनबाबू ने कहा, "साथ में एक साइनबोर्ड भी, जिस पर लिखा होगा– विश्वप्रसिद्ध बड़े-पकौड़े की दुकान।"

दिलीप ने कहा, "ना, ना विश्वप्रसिद्ध बड़ा-पकौड़ा दुकान प्राइवेट लिमिटेड।"

कुछ देर दोनों ठठाकर हँसते रहे और बिना समझे यमुना देवी भी मुस्कुराती रही।

थोड़ी देर तक सभी के चुप रहने के बाद यमुना देवी ने खामोशी तोड़ते हुए कहा, "नहीं रे दिलीप, तेरे काका के पास पहनने को कुछ नहीं है। पाँच लोगों में उठते-बैठते हैं। पेट में कुछ पड़ा हो न हो, तन पर कुछ न पड़ा हो तो सबको दिख जाता है। आज किसी भागवत सभा, तो कल किसी और सभा में आते-जाते रहते हैं। सोचती हूँ दशहरे में जब रुपए में बीस पैसे की छूट होगी, तब धराऊ धोती-कुर्ते का जोड़ा लेकर रख लेंगे।"

दिलीप ने सिर हिलाया। आँखों से चश्मा उतारते हुए तपोवनबाबू ने कहा, "हाँ, यह तो सच है... पर तेरे पहनने को भी भला कहाँ कुछ है?"

फिर सभी कुछ देर चुप रहे। इस बार तपोवनबाबू ने मुँह खोला– "सिर्फ पैसे ही थोड़े ना पकड़ा देंगे? क्यों बेटे, बोल तो? साथ में जरूर मट्ठे की चादर या धोती तो देंगे ही। यदि मट्ठे की चादर मिलेगी तो किसी दुकान में देकर उसके बदले तेरी काकी के लिए एक अच्छी सी साड़ी ले आऊँगा। और जितने पैसे लगेंगे लगने दो। अब भला दिन फिर कब लौटेंगे कि अच्छे कपड़े पहन पाएगी? कुछ नहीं तो दो साल बाद बुला की शादी में वही मुँह-दिखाई दे देगी।"

दिलीप ने मुस्कुराते हुए कहा, "ओहो, अब तो मेरी काकी धराऊ साड़ी पहनेगी!"

यमुना देवी ने चिड़चिड़ाते हुए कहा, "बड़े भारी कवि बन गए हैं ना, इतनी बड़ी-बड़ी बातें गढ़ रहे हैं। इस बुढ़ापे में धराऊ साड़ी पहने बिना जैसे कि मेरा काम चलेगा ही नहीं। अरे, उस साड़ी-वाड़ी की बात छोड़ो। मट्ठे की चादर घर पर ही रखेंगे। चिन्हारी रहेगी हमेशा के लिए।"

बातचीत के बीच में कूदकर दिलीप ने कहा, "छोड़ो काका इन बातों को। समारोह में कोई पूछेगा तो बताओगे या नहीं कि कहानियों में जो

दिलीप, बेठिखाई, पुआलू और सावित्री इत्यादि हैं वे सब सच के हैं? नवीं कक्षा में फेल होने के बाद दिलीप वाकई पान की दुकान करता है और बेठिखाई आधा किलो चावल या लक्स साबुन के बदले सचमुच इज्जत का सौदा करने को तैयार हो जाती है।

"कोई पूछेगा तो कैसे ना करूँगा, बेटे? वैसे भी जो कुछ कहानियों मैं लिखता हूँ उसमें झूठ है ही कहाँ?" तपोवनबाबू ने जवाब दिया।

सड़क पर किसी ट्रक के टायर फटने जैसी आवाज आई। दिलीप ने कहा, "तेरा नसीब आज भी अच्छा है, काफी! दो मील (खाना) तैयार करके बैठ।"

तपोवनबाबू ने मन ही मन मुस्कुराते हुए कहा, "लाइन-ट्रक है क्या रे? देख तो जरा। डबल ड्राइवर होगा। तीन मील चाहिए होगा।"

यमुना देवी ने दिलीप से कहा, "बुला तो स्कूल चला गया। जा बेटा, तू ही कह आ। अरुआ, केला, अंडा, मच्छी, जो भी कहेंगे बना दूँगी। भात चार रुपए, रोटी खाएँगे तो साढ़े चार।"

दिलीप जाने लगा। तपोवनबाबू ने पीछे से आवाज देते हुए कहा, "नाश्ता भी है– कह देना। सब-कुछ भरा है। आलू बड़े, पकौड़े, चाय, जो भी कुछ चाहेंगे।"

इतने में दो साइकिलवालों ने बाहर साइकिल टिकाते हुए ऑर्डर दिया, "स्पेशल चाय, दो कप।"

यमुना देवी खुशी से विभोर हो उठीं, तपोवनबाबू भी।

सेमिनार

दिल्ली आए मुझे तीन दिन हो गए थे। किसी एक मित्र ने सेमिनार में आने का निमंत्रण पत्र दिया। सेमिनार से अधिक आग्रह सेमिनार में वक्ता के रूप में आनेवाले अपने एक पुराने मित्र से मिलना था। निमंत्रण पत्र में उसका नाम देखा तो पुरानी यादें उभर आईं, सोचा जरूर मिलूँगा। सुबह कोई खास काम नहीं था, लंच के लिए कहीं से कोई निमंत्रण भी नहीं, सेमिनार में जाना ठीक रहेगा।

सेमिनार साढ़े दस बजे शुरू होना था। मित्र से मिलना है तो थोड़ा पहले पहुँचना चाहिए। खैर साढ़े दस बजे सेमिनार हॉल की ओर गया। पर हॉल बिलकुल खाली। माइक मैकेनिक का 'हैलो-हैलो, माइक टेस्टिंग' अभी तक खत्म नहीं हुआ था। एक कार्यकर्तानुमा व्यक्ति मंच पर पानी की बोतलें रख रहा था- बस, और कुछ नहीं, कोई नहीं। 'अभी से बैठना तो बेवकूफी होगी' मैंने अपने आप से कहा। जैसे अंदर गया था वैसे ही बाहर निकल आया।

बाहर सेमिनार के आयोजक, उद्‌घाटनकर्ता के साथ धूप ताप रहे थे। आयोजक महोदय का एक सफल सेमिनार आयोजक के रूप में दिल्ली में और इसलिए देश के बुद्धिजीवियों में आजकल काफी नाम था। परिचय के लिए वे हिंदी के प्रोफेसर थे। उद्‌घाटनकर्ता की ख्याति एक बुजुर्ग इतिहासकार के रूप में थी। ख्याति को बीस-पच्चीस वर्ष हो चुके थे और युवा इतिहासकारों की अवहेलना के चलते उसमें जंग लगने लगा था। हाल ही में एक भारी प्रोजेक्ट हाथ लग जाने से वे एक बार फिर चर्चा में आ गए थे। कुछ लोगों का कहना था प्रोविडेंट फंड व पेंशन को छुए बिना दिल्ली में मकान बनाने के लिए सरकार ने उन्हें प्रोजेक्टरूपी उपहार दिया था। खैर, ये सब तो आलोचकों का प्रचार है। प्रोजेक्ट पानेवाले के विरुद्ध न पानेवालों का अंतिम अमोघ अस्त्र। हमारी कहानी और इतिहासकार दोनों ही का इसमें

भला है कि यह प्रसंग आगे न बढ़ाया जाए।

दिल्ली में जाड़े की धूप तापने से अधिक सुखद और कुछ नहीं। लेकिन धूप तापना चूँकि एक गैरबुद्धिजीवी का काम है, सो आयोजक और इतिहासकार बौद्धिक चर्चा में व्यस्त थे। आयोजक मेरे मित्र के मित्र थे। एक-दो बार पहले मिला भी हूँ। अंग्रेजी और हिंदी के बीच हिंदी के, हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं के बीच क्षेत्रीय भाषाओं के पक्षधर के रूप में उनके तर्क भी मैंने कई बार सुने हैं। इस परिचय के नाते मैंने उनसे जाकर हिंदी में पूछा, "सेमिनार कब तक शुरू होगा।" कलाई की घड़ी देखते हुए उन्होंने जवाब दिया, "जस्ट नाव, प्लीज गो इन।" शायद उन्होंने मुझे नहीं पहचाना। कहने के अंदाज से लगा, उन्हें हॉल के खाली होने, माइक टेस्टिंग जारी रहने और समय बीत चुकने का कोई आभास नहीं। यह भी हो सकता है खुद धूप तापने का वे जो आनंद उठा रहे थे, उससे दूसरों को वंचित रखना चाहते हों। अंग्रेजी के जोर से औरों को हॉल के भीतर धकेलने की कोशिश कर रहे हों। मन ही मन 'चलो मैं भी धूप ही सेकूँ' कहकर आयोजक के निर्देश की अवहेलना करते हुए मैं आगे बढ़ गया।

लगभग बीस मिनट बाद मैंने सोचा, यदि ग्यारह बजे तक सेमिनार शुरू न हुआ तो कब होगा चायपान और कब लंच? तेजी से हॉल की ओर लौट आया।

आश्चर्य की बात- हॉल बिलकुल फुल। मेरा ख्याल था कि आयोजक लोगों से अंदर जाने का बार-बार अनुरोध कर रहे होंगे। पर वे तो मंच पर विराजमान थे और सेमिनार की रूपरेखा रख रहे थे। उपस्थित प्रतिभागियों का स्वागत करने के उपरांत सेमिनार की महत्ता और विषय-वस्तु की प्रासंगिकता पर प्रकाश डाल रहे थे।

हॉल की अंतिम कतार में बैठा मैं सोचने लगा- अभी हॉल खाली था, कुछ ही क्षण में इतने लोग आए कहाँ से? दिल्ली छोड़े मुझे पाँच-सात साल हो चुके हैं। उन दिनों महानगर के सेमिनारों की प्रमुख समस्या होती थी उपस्थिति। कभी-कभी तो लगता था कि अनुपस्थिति के कारण सेमिनारों का होना ही बंद न हो जाए। किंतु आज के अनुभव से लगा, समस्याओं से जूझने की अद्‌भुत क्षमता है दिल्ली में। बुद्धिजीवी अब झुंड में आते हैं और छा जाते हैं। सेमिनार के इस नए आयाम को लेकर मैं इतना चिंतामग्न रहा कि न तो आयोजक का व्याख्यान समझ पाया और

न ही विषय-वस्तु की प्रासंगिकता से आश्वस्त हो पाया। फलस्वरूप मेरे संशय ने अंत तक मेरा साथ नहीं छोड़ा।

'साक्षरता और संस्कृति'– यही था सेमिनार का विषय। मुख्य वक्ता के रूप में पधारे थे राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के अध्यक्ष एक युवा आई.ए.एस. अधिकारी। सेमिनार का आयोजन मिशन के अनुदान से हो रहा था। यही कारण था कि उन्हीं का व्यक्तित्व सेमिनार पर छाया हुआ था। संस्कृति के पक्षधर के रूप में मेरे मित्र के अलावा और पाँच-सात खादी झोलावाले रंगकर्मी भी पहुँचे हुए थे। निमंत्रण-पत्र में एक अभिनेत्री का भी नाम था जिनका धंधा मंदा चल रहा था और उम्र भी बढ़ चली थी। बहरहाल, अभी तक वे पहुँची नहीं थीं। विभिन्न वक्ताओं के परस्पर विरोधी तर्कों को माला के रूप में गूँथने का अतिरिक्त दायित्व था इतिहासकार-उद्घाटनकर्ता का। उनका शांत, सौम्य, ऋषिप्रतिम रूप हॉल में एक आश्रम सा माहौल पैदा कर रहा था।

प्रस्तावना के उपसंहार में आयोजक ने अपने व्याख्यान का सारांश प्रस्तुत किया– 'साक्षरता का प्रसंग जितना जटिल है उतना ही महत्वपूर्ण भी। इसे हमें आज समझना होगा वरना इतिहास हमें हाशिए पर धकेल देगा।' इतिहासकार ने सिर हिलाया मानो अपनी सहमति जता रहे हों– 'हम वामपंथी बुद्धिजीवी यह सोचते हैं कि राष्ट्र और शासक वर्ग के सारे काम वर्गहितों के अनुरूप होते हैं। इसलिए वे जनता के हितों के प्रतिकूल होते हैं। सरकारी साक्षरता मिशन के बारे में भी हमारी यही धारणा है। पर यह धारणा भ्रामक है। साक्षरता मिशन का अध्यक्ष टुलू, मैं बचपन से उसे टुलू ही कहता आया हूँ, इसलिए आज भी टुलू ही कहूँगा, इस विषय पर विस्तार से बोलेगा। साक्षरता को लेकर जो तमाम गलतफहमियाँ आम लोगों में पनपी हैं, संस्कृतिकर्मी ही उनका पर्दाफाश करेंगे। साक्षरता और संस्कृति के बीच एक घनिष्ठ संबंध है। इसलिए हमारे इस सेमिनार में जब कोट-टाई पहने टुलू के साथ खादी झोलेवाले रवींद्रजी (मेरा मित्र) बैठते हैं तो सेमिनार की सार्थकता में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।' यह सुनकर लोग ठहाका मारकर हँसने लगे। मेरा मित्र रवींद्र जवाब में कोई अधिक चुटीली बात कहना चाह रहा था, पर इसका मौका उसे नहीं मिला। आयोजक ने अपना व्याख्यान समाप्त किया।

संस्कृतिकर्मी वैसे भी हॉल में अगली कतारों में ही बैठे थे। पिछली

कतारों में मेरे अलावा मुझ जैसे कुछ ही लोग थे। पर मजे की बात यह है कि जो जहाँ था उससे आगे बढ़ने का कोई अवसर नहीं था, आयोजक कितना भी क्यों न उकसाए। इसके बावजूद प्रस्तावना-भाषण सुन कई लोगों ने सिर हिलाया। हॉल में कुछ चहल-पहल सी हुई।

रवींद्र चुप था। बीच-बीच में वह अपनी नाक पर हाथ फेर लेता था। शायद नाक से कुछ निकालना चाहता हो। परंतु सामने बैठे लोगों के डर से निकाल नहीं पा रहा था। मुझ पर नजर पड़ते ही उसने इशारे से किसी को बुलाया और मुझे दिखाकर कुछ कहा। इसके बाद एक प्लास्टिक फाइल, एक बालपेन, एक स्क्रीबिलिंग पैड मेरे पास पहुँच गए। फाइल, रवीद्र की फाइल से हल्की मालूम पड़ी। किंतु मेरे बगल में बैठे व्यक्ति ने उसे ललचाई नजरों से देखा। उन्हें कुछ भी नहीं मिला था। बालपेन और स्क्रीबिलिंग पैड अपने पास रखकर फाइल उन्हीं को देने का मैंने उसी क्षण निश्चय किया।

कार्यक्रम का दूसरा चरण था उद्‌घाटन। बुद्धिजीवियों का समारोह- न दीपक जलाने की परंपरा थी न दियासलाई पकड़ाने के लिए किसी सुंदरी की उपस्थिति। उद्‌घाटन का अर्थ था- विशुद्ध भाषण। उद्‌घाटनकर्ता इसके लिए तैयार थे।

साक्षरता का अर्थ क्या है? प्रश्न पूछकर उद्‌घाटनकर्ता ने खुद इसका जवाब देना शुरू किया। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश से लेकर फ्रान्सीसी भाषाशास्त्रियों के मतों का उद्वरण देने के बाद अंत में उन्होंने कहा- साक्षरता का अर्थ अक्षर ज्ञान। विश्व में संस्कृति की परिभाषा को लेकर जो विवाद है उसे उन्होंने जिस तरह पेश किया, लगा मंदिर-मस्जिद से वह कम विवादास्पद नहीं है। पहले मुझे इसका भान नहीं था। खैर उन्होंने विवाद का हल सुझाते हुए कहा, "संस्कृति का मतलब है पेट की भूख के सिवा सब कुछ।" जान बची, मैं तो खामख्वाह डर रहा था। उन्होंने फिर कहा- "साक्षरता योजना के पीछे साक्षर वर्ग और पूँजीपति वर्ग का स्वार्थ है- कुछ लोगों का ऐसा मानना है। खेतिहर मजदूर के साक्षर होने पर उत्पादन बढ़ेगा। पूँजीवादी व्यवस्था सुदृढ़ होगी, यह एक गलत धारणा है।" सेमिनार में न कोई खेतिहर मजदूर था न ही कोई पूँजीपति। मजदूर वर्ग का कोई उपस्थित था तो वह माइक मैकेनिक जो माइक में कोई गड़बड़ी न होने की खुशी से कोने में बैठा ऊँघ रहा था। उपस्थित लोगों

में वे 'कुछ लोग' भी शायद हों, परंतु इतिहासकार के विचार सुनकर उन्होंने यह जाहिर नहीं किया कि-- हमारे मन की बात इतिहासकार कैसे जान गए? आयोजक ने भी नहीं टोका कि आप कुछ नया कहिए, यह तो मैं अपनी प्रस्तावना में कह चुका हूँ। इतिहासकार की बातें एक निश्चित सीमा में बिना किसी बाधा-बंधनों का सामना किए, झरने के स्रोत की भाँति कल-कल बह गईं। न किसी ने उसे रोका और न आगे जाने में मदद की। उद्घाटनकर्ता को कई और कार्यक्रमों में भी भाग लेना था। इसलिए उन्होंने जल्दी ही अपना वक्तव्य समाप्त किया। इसी के साथ शुरू हुआ टी-ब्रेक।

अभी तक हुए सारे कर्यक्रमों में ज्यादा आकर्षक रहा टी-ब्रेक यानी चायपान का पर्व। जिस तरह रथयात्रा के समय भगवान जगन्नाथ को मंदिर से बाहर लाया जाता है, ठीक उसी तरह युवा टुलूबाबू और बुजुर्ग इतिहासकार को आयोजक बाहर ले आए। सेमिनार हॉल के ठीक आगे था चाय-पानवाला कक्ष। दोनों को एक जगह खड़ा करके आयोजक गए चाय का प्याला लाने। इतने में दोनों जुट गए चर्चा में। जब इतिहासकार ने कहा- देश के बुद्धिजीवी साक्षरता के सवाल को लेकर जितना सोचना चाहिए, सोच नहीं रहे हैं और यह घोर चिंता का विषय है- टुलूबाबू ने विनम्रता के साथ अपनी असहमति जताई और उत्पन्न समस्या के लिए सरकार को दोषी माना। निष्पक्ष बुद्धिजीवी ऐसे होते हैं- जहाँ होंगे वहीं की आलोचना करेंगे। बुद्धिजीवियों की आलोचना करके इतिहासकार ने अपनी निष्पक्षता की मिसाल दी थी, टुलूबाबू ने सरकारी पद पर होने के बावजूद सरकार को दोषी ठहराया और इस तरह बुद्धिजीवी होने के अपने दावे को दोहराया। तब तक आयोजक चाय का प्याला लेकर आ चुके थे। चर्चा को कुछ रंगीन करने के इरादे से उन्होंने बीच में कहा- बताएँ, पनीर का पकौड़ा अच्छा है या पालक का? दोनों पकौड़ों से थोड़ा-थोड़ा चखते हुए टुलू बाबू ने जवाब दिया- हालाँकि नाम अलग-अलग हैं, परंतु दोनों पकौड़ों के गुण, केवल गुण ही क्यों स्वाद भी, एक ही है। इस पर तीनों ने जोर-जोर से ठहाका लगाया। बीच में कहीं इतिहासकार की आवाज थी- मैं तो हाई ब्लडप्रेशर का मरीज हूँ। मैं नहीं जानता, मैं नहीं जानता- पर वह ठहाकों से ऊपर नहीं आ पा रही थी। आसपास खादी झोलेवाले रंगकर्मी पकौड़े खा रहे थे और चर्चा कर रहे थे। ठहाकों ने उन्हें गोष्ठी में शामिल होने का साहस दिलाया। इससे चायपान के कक्ष में भी

एक बार इतिहास, साक्षरता और संस्कृति के बीच समन्वय स्थापित हुआ।

चायपान की विशेषता यह थी कि न उसमें चाय थी न पान। वह महज एक उप-कार्यक्रम का नाम था और उसमें जो था- उसका नाम कहीं नहीं था- पनीर और पालक के पकौड़े, मीठे-नमकीन आदि तरह-तरह के बिस्कुट, बर्फी, इसके अलावा फीकी-मीठी कॉफी। वैसे तो चाय भी थी, पर अछूत सी थोड़ी दूरी पर। मिनटों में जैसे सेमिनार हॉल भर गया था, उसी तरह पलक झपकते ही ट्रे के पकौड़े गायब हो जाते, उसकी जगह दूसरी ट्रे आ जाती। मुझ जैसे कुछ लोग जो एसिडिटी के मरीज थे नमकीन बिस्कुट की ट्रे पर डटे हुए थे। मीठे बिस्कुट का ट्रे पूतना सा पड़ा था- वीभत्स, कुरूप। हर कोई उसे देखकर अनदेखा कर रहा था। आज पकौड़ों का दिन था। मेरी धारणा थी कि खादी झोलावाले इस मामले में दूसरों से आगे रहेंगे। पर कम कोई नहीं था। जैसे इतिहासकार की बातों से बुद्धिजीवियों की धारणा गलत साबित हुई थी, चायपान का दृश्य देखने के बाद मेरी भी धारणा भ्रामक प्रमाणित हुई। एक घंटे के बाद लंच है- शायद यह किसी के जेहन में नहीं था। अनागत भविष्य पर भरोसा न कर मौजूद वर्तमान को समेटने में हर कोई व्यस्त था। चायपान की संतुष्टि से लगा- सेमिनार आधा सफल।

कप में आधी कॉफी छोड़कर इतिहासकार अपनी कार में चल दिए। दिनभर बैठने की उन्हें फुर्सत कहाँ? आयोजक उनके साथ गेट तक गए। टुलूबाबू फिलहाल एक बुजुर्ग अतिथि के साथ चर्चा में मग्न थे। रवींद्र को अकेला देख कॉफी का प्याला लिए मैं उसके पास पहुँचा।

-स्साले कुछ तो शर्म कर, मैं तुझसे मिलने यहाँ आया हूँ और तू है कि वी.आई.पी.यों के...

-सच कह रहा है? क्या पकौड़े खाने नहीं आया? उसने अपने पुराने अंदाज में कहा। कहा क्या बल्कि पूछा, "सुनो आज रात तुम मेरे यहाँ रह रहे हो।" उसकी बातें मुझे नाटक के डायलॉग सी लगीं पर मैंने टोका नहीं। उसके लिए अवसर भी नहीं था।

-यार काफी बातें करनी हैं। मेरे घर का पता रखो। आज रात जैसे भी हो यहाँ रुक जाओ।

-सचमुच बातें करनी हैं या फिलहाल मुझे खिसकाना चाहते हो? वह केवल मुस्कुराया, जबकि कह सकता था- तुम स्साले सुधरोगे नहीं।

करीब पंद्रह साल पहले लगभग एक साथ हम दोनों- रवींद्र और मैं- एम. ए. पढ़ने दिल्ली आए थे। एक साथ मंडीहाउस नाटक देखने जाया करते थे। कुछ नाटकों में छोटे-छोटे रोल भी किए। बाद में मैं दिल्ली छोड़कर बाहर नौकरी करने चला गया। वह रह गया- दिल्ली और नाटकों में। स्ट्रीट प्ले करता है। दो साल पहले सुना था- उसकी अपनी एक मंडली है। काफी बड़ी। कला और आम जनता टाइप बातें करनेवाले बहुत से विद्यार्थी हैं उसमें। रंगकर्मी की भाँति दिखनेवाले कई लड़के-लड़कियाँ जिस मात्रा में उससे 'भैया-भैया' कर रहे थे (खैर, किसी को उसके पाँव छूते मैंने देखा नहीं) मुझे लगा मंडली की नींव मजबूत है। दलपति का आसन रवींद्र के लिए सुरक्षित है।

"रवींद्रजी आज तो आपने मेरी नाक को कटते-कटते बचा लिया। कैसे शुक्रिया अदा करूँ आपका कह नहीं सकता।" मेरे पीछे से आयोजक आए और अपने दोनों हाथों से रवींद्र के दोनों हाथ पकड़े रहे। हमारी बातचीत अधूरी रह गई।

रवींद्र ने कहा, "समझे, मुझे भी समझ में नहीं आ रही थी। लड़के आखिर गए कहाँ? चालीस में से चालीस को आना था। तुरंत मैंने किसी को भेजा- लाइब्रेरी, हॉस्टल, कॉमनरूम चारों ओर देखो। एक भी न रह जाए।"

"आप यकीन मानिए मेरी जान तो हथेली पर आ चुकी थी। मगर आप हैं इसलिए पूरा भरोसा था। खैर बहुत-बहुत शुक्रिया। यदि सेमिनार सफल रहा, श्रेय का आधा हिस्सा तो आपको लेना ही होगा।"

-और यदि न लिया तो?

दोनों ने फिर एक बार हाथ मिलाया और जोर-जोर से ठहाका लगाकर हँस पड़े। अभी तक आयोजक की निगाह मेरी ओर पड़ी नहीं थी। मैं था, और नहीं भी था उनके लिए। अब नजर पड़ी तो आँखों-आँखों में उन्होंने मेरे बारे में पूछा। आँखों-आँखों में रवींद्र ने जवाब दिया- बंदा अपना है। फिर मुँह से कहा, "मेरा मित्र उड़िया साहित्य का एक सफल हस्ताक्षर है।"

ऐसा विशेषण मैंने पहली बार सुना। अच्छा लगा। उसकी बातों में आत्मविश्वास की एक झलक सी थी। लगा, अतिरंजना है, पर विशेषण में कोई अशुद्धि नहीं। वैसे भी मिनटों में सेमिनार हॉल भरने का राज

मालूम हो जाने के बाद रवींद्र के प्रति मेरे मन में किसी प्रकार की ईर्ष्या नहीं थी। बल्कि जी कर रहा था उसे 'भैया' कहकर पुकारूँ।

चायपान के बाद सेमिनार का दूसरा सत्र। अध्यक्ष हैं टुलूबाबू। अपने आई.ए.एस. वाले अंदाज में उन्होंने शुरू में कह डाला-- दस मिनट से आधा मिनट भी किसी को फालतू समय नहीं देंगे क्योंकि वे समझते हैं कि दस मिनट में जो अपनी बात नहीं रख पाता, पंद्रह मिनट में भी उसके लिए वहीं समस्या बनी रहेगी। इस निर्देश के बाद और क्या? एक के बाद एक चार आमंत्रित अतिथि धड़ाधड़ अपने-अपने निबंध पढ़ गए। उनमें से एक जो देखने में काफी बुजुर्ग और सुनने में 'आम लोगों के बीच बंबई में साक्षरता के लिए काम करते थे' यह बताना चाह रहे थे कि उनका समय ज्ञान किसी आई.ए.एस. से कम नहीं है। इसलिए दस मिनट होते ही वे, निबंध तो बाद की बात है, वाक्य समाप्त किए बगैर ही बैठ गए। एक तो पोपला मुँह तिस पर जल्दीबाजी। सारी क्रियाएँ वाक्यों से लगभग गायब थीं। अब वाक्य भी अधूरे रहे। नतीजन उनके वक्तव्य के साथ व्यक्तित्व भी मुझे कुछ धुँधला सा लगा। मल्लयुद्ध से लौटने सा वे काफी उत्तेजित लग रहे थे। टुलूबाबू के बार-बार अनुरोध के बावजूद उन्होंने वाक्य पूरा नहीं किया।

दूसर वक्ता कुछ आशावादी नजर आए। वे आदिवासियों के इलाके में काम करते हैं और जाहिर है वह इलाका पिछड़ा होगा। वहाँ साक्षरता का अभियान एक जनआंदोलन का रूप ले चुका है। मिशन की गाड़ी आते ही लोग खाना-पीना छोड़ बच्चों की तरह उसके पीछे-पीछे भागते हैं। मिशन के पोस्टरों को वे अपने कमरों की दीवारों पर चिपकाते हैं। आगे भी मिशन का काम यदि इसी तरह चलता रहे तो कुछ ही दिनों में साक्षरता का झंडा तिरंगा के साथ समान ऊँचाई पर फहरने लगेगा– इसमें दो राय नहीं। व्यक्तिगत रूप से वे इस काम में इस कदर जुट गए हैं कि अपने घर दिल्ली लौटने का उन्हें कभी मन नहीं करता। उनकी बातों में आशा की जो किरणें दिखाई दीं उससे क्षण में पूरा हॉल आलोकित सा हो उठा।

तीसरे वक्ता थे एक पत्रकार, महानगर निवासी। उन्होंने अपनी व्यंग्यात्मक शैली में कहा– साक्षरता है एक सस्ता सरकारी नारा, एक दिखावा। मिशन कोई मिशन नहीं, बल्कि कमीशन में काम करनेवालों का धंधा है। मिशन से पैसे लो और सरकार के गुण गाओ-- यही है वह नारा।

अध्यक्ष को छोड़ बाकी जनता ने हल्ला मचाया-- साक्षरता के सवाल को आप इस तरह टाल नहीं सकते। दिल्ली के ऐशो-आराम में रहकर इस तरह की बेतुकी बातें करने का कोई मतलब नहीं। वक्ता निरुत्तर, अध्यक्ष तटस्थ।

सत्र का शेष निबंध, साक्षरता और महिला था। निबंध की लेखिका की तरह न केवल सीधा-सपाट बल्कि कुछ निरामिष सा भी लगा। इसलिए बिना किसी तर्क-वितर्क के निकल जाना था उसकी नियति। मैं तो सोच रहा था- चलो अच्छा हुआ, बेचारी उलझनों से बची। पर आयोजक इससे नाराज हो गए। कहने लगे, महिलाओं की समस्या से हम कितना कम वाकिफ हैं यह हमारी मौन से साफ प्रकट होता है। कभी-कभी पुरुष होने के नाते हम अवचेतन में महिला समस्याओं के विरोधी बन जाते हैं। अपने मौन के बल पर उनके खिलाफ षड़यंत्र रचते हैं।

मुझे काफी अफसोस हुआ मैं खुद उस षड़यंत्र का एक रचनाकार था, जिसका मुझे अब तक पता नहीं था। कितना शर्मनाक है इस तरह आयोजकों के हाथों रंगे हाथ पकड़े जाना। बाद में पता चला कि वह महिला आयोजक की पत्नी हैं और उनके हर सेमिनार में इस तरह का सीधा-सपाट और निरामिष निबंध पढ़ने आ जाती हैं।

प्रश्नोत्तर कार्यक्रम से मुझे कुछ जानकारी हासिल हुई। पहला, साक्षरता के सवाल को हमें समझना होगा; दूसरा, वक्ताओं के अलावा उपस्थित लोगों में भी कई ऐसी हस्तियाँ हैं, जिन्होंने आदिवासियों के संग, और जाहिर है झोपड़ियों में, दिन काटे हैं, साक्षरता के सवाल को समझने की कोशिश की है; तीसरा, सेमिनार में हर कोई सवाल के बहाने जवाब देता है। इस पर अध्यक्ष ने कुछ झुँझलाते हुए एक प्रश्नकर्ता से पूछा-- आप हमें सिर्फ एक वाक्य में बताएँ आपका सवाल क्या है? दूसरी ओर से सवाल हुआ-- पहला प्रश्न, लंच कब होगा? दूसरा, उसमें केवल आमंत्रित अतिथियों को निमंत्रण है या सेमिनार में उपस्थित हर किसी का? इस पर आयोजक खड़े हुए और विनम्रतापूर्वक कहा, "सभी आमंत्रित हैं।" सत्र खत्म हुआ। लोग थोड़ी दूरी पर बने भवन में डाइनिंग हॉल की ओर बढ़े।

लंच भी काफी अच्छा था। आइसक्रीम, चिकन सब इफरात में। हर कोई आयोजक की प्रशंसा कर रहा था। 'इनके हर सेमिनार में व्यवस्था अच्छी ही होती है।'

आयोजक की पत्नी अकेले बैठी खा रही थीं। कुछ उदास सी लगीं।

अपने निबंध पाठ के बाद जो तर्क-वितर्क चलना था, उसके चल न पाने का संभवतः कारण तलाश रही थीं। साथ में आयोजक की आयोजनवाली मोटी फाईल सँभाले हुए थीं।

मेरे मित्र रवींद्र से मेरी बात तबसे नहीं हो पाई थी। कभी भैया लोग उसे अपने घेरे में रखे हुए थे, या फिर कभी वह टुलूबाबू को घेरने की कोशिश करता था। उसका निबंध तीसरे सत्र में था। झूठ-मूठ का हड़काते हुए वह अपने परिचितों को लंच के बाद जरूर रुकने को कह रहा था। बड़ों से हाथ जोड़ लेता था। अंततः मुझे भी रात को रुकने के बजाय कम से कम शाम तक रुकने को कहा। मैंने जब जवाब दिया, "इतने सारे लोग तो हैं," हमारे पुराने दिनों की याद दिलाते हुए उसने कहा- "कितने भी लोग क्यों न हों, मुझे तो सिर्फ तेरी प्रतिक्रिया चाहिए।" उसकी बातों से लगा, अपने अनुयायियों पर उसका भरोसा नहीं रह गया था। डरता था, खाने के बाद सब स्साले फूट लेंगे।

डायनिंग हॉल में सहसा मेरे एक पुराने परिचित दिखाई पड़े। पहले न तो सेमिनार हॉल में उन्हें देखा था, न ही चायपान के समय। वे नजर बचा रहे थे। मगर मैं उनके पास गया, हैलो किया। उन्होंने अपनी कलाई बढ़ा दी। हाथ जूठा था। मैंने भी अपनी कलाई से उनकी कलाई को छुआ। इस तरह हम दोनों ने हाथ मिलाने का रिवाज पूरा किया। वे शायद डर रहे थे, मैं कही पूछ न लूँ- आप तो सेमिनार हॉल में थे नहीं? इसलिए मेरे कुछ बोलने से पहले ही उन्होंने पूछा- आजकल क्या पढ़ रहे हो? हर बार वे यही सवाल करते हैं। मेरे मुँह से तो निकल रहा था- अखबार, वह भी बासी। पर बोल नहीं पाया। कहीं नहीं हँसे तो या फिर सच मानते हुए (जबकि वह सच था) बाद में मुझ पर हँसे तो? मैंने कहा- फूको। उन्होंने सलाह दी- देरिदा को पढ़िए। पिछली बार उन्होंने देरिदा की जगह फूको पढ़ने की सलाह दी थी। खैर मुझे और कुछ बोलने का मौका नहीं था, क्योंकि वे चिकन की तलाश में आगे बढ़ गए।

बुजुर्ग अतिथि अब समय-ज्ञान पर चर्चा कर रहे थे। आइसक्रीम उनकी प्रिय डिश थी।

टुलूबाबू सोफे पर थे। दूसरों की तरह डिश की खोज में उन्हें खुद जाना नहीं पड़ता था। उनके लिए प्लेट से लेकर चिकन तक की व्यवस्था आयोजक स्वयं कर रहे थे। इस काम से फुर्सत मिलते ही दूसरों से पूछते

थे- कैसा रहा? सारे लोगों ने कहा, "बहुत अच्छा।"

मैंने व्यंग्यकार को देखा। उनके साथ कोई नहीं था। उसके निबंध ने मुझे कुछ चौंकाया था। अब अकेले पाकर उनसे मिला तो अपना परिचय दिया। उनके निबंध की प्रशंसा की। आयोजक और मिशन को वे तब तक अपना दुश्मन घोषित कर चुके थे। लोगों ने जिस तरह हॉल में उनकी खिल्ली उड़ाई थी और अब अकेले छोड़ रखा था, मुझे अटपटा सा लगा; व्यंग्यकार के प्रति मन में दया सी जागी। पर अब भी मेरी धारणा पहले की तरह गलत निकली। लोगों के कटु-वचन और उपेक्षा को वे उपाधि सा सँभाले हुए थे। अकेलेपन का फायदा उठाकर चिकन पर चिकन खाते जा रहे थे। मैंने उन्हें अकेला छोड़कर खुद पुच्छल तारे सा डाइनिंग हॉल के भीतर यहाँ से वहाँ घूमता रहा।

लंच के कारण और उसके बाद सेमिनार की सफलता को लेकर किसी के मन में कोई संदेह नहीं था। काफी काम होने के कारण टुलूबाबू हॉल तक नहीं लौटे। बुजुर्ग अतिथि और बाहर से आए अतिथि दिल्ली घूमने चले गए। उन्हें शॉपिंग करनी थी। रवींद्र को मंच पर बिठाकर उसके कई 'भैया' भी चल दिए। कुछ जाने-पहचाने प्रश्नकर्ता और वक्ताओं को छोड़ हॉल लगभग खाली था। प्रश्न-उत्तर के लिए काफी समय था। आयोजक कुछ भी हो, दुखी नहीं थे।

जब तक लंच लेने का अपराधबोध मुझ पर हावी था, मैं हॉल में बैठा रहा। बाद में जब नींद हावी हुई, फूट लिया। सेमिनार चल रहा था।

कुड़िम

कुड़िम और दो बार माँ-माँ कहकर जोर-जोर से बुलाने लगा। इसके बावजूद बूढ़ी ने कोई जवाब नहीं दिया। दूसरे कमरे में वह अपने बड़े बेटे मंगलू की नातिन बच्ची के सिर से जुएँ निकाल रही थी। कुड़िम के पुकारने की परवाह न करना उसकी पुरानी आदत है। नातिन बच्ची भी बूढ़ी दादी की गोद में निश्चिंत बैठी थी। ऐसा लगता था मानो उसे छोटे दादा कुड़िम के गुस्से से कोई फर्क नहीं पड़ता हो। अपनी छोटी सी उम्र में वह इन सब हरकतों की आदी हो चुकी थी। हल्ला-गुल्ला इस घर में चलता रहता है। चूँकि, इससे कोई बात बिगड़ती नहीं सो बच्ची को कुड़िम के चिल्लाने से कोई डर-भय नहीं होता।

"ऐ माँ, मर गई क्या?" अबकी बार कुड़िम ने इतनी ऊँची आवाज में यह कहा मानो वह आखिरी बार कह रहा हो। उसने अपनी आवाज में पूरा जोर लगा दिया था। उसकी आवाज इतनी कड़क थी कि बच्ची ने इससे बचने के लिए अपने दोनों कानों को अपने दोनों हाथों से ढक लिया। अब बूढ़ी को जवाब देना लाजिमी हो गया था।

बूढ़ी ने कहा, "क्यों इतना चिल्ला रहा है रे रई (एक गाली)! क्या मैं बहरी हूँ, जो तुम्हारी पुकार नहीं सुन सकती।"

"तो फिर पाँच बार आवाज दे चुका हूँ, तुम कोई जवाब क्यों नहीं देती कोढ़ी"। कुड़िम ने क्रोध में कहा। "पाँच बार क्यों पचास बार भी बुलाओगे तो भी जवाब नहीं दूँगी। क्या कोई फाँसी लगा दोगे?" बूढ़ी ने पलटवार किया।

माँ के कड़े जवाब से कुड़िम थोड़ा सहम गया। वैसे भी धीरे आवाज देना, जोर से आवाज देना, पाँच बार या पचास बार बुलाना – इन सभी बातों में उलझे रहना उसका मकसद नहीं था। माँ के करीब आकर अब वह अपने मतलब की बात कहने लगा, "जा, एक खेजा (कटोरी भर अनाज की मात्रा; जिसके बदले दुकान से कोई सामान खरीदा जाता है) लेकर बीड़ी ला दे मेरे लिए।"

"क्यों किस भदरी (भंडार) में धान रखा है पहले मुझे दिखा दे, उसके बाद एक क्यों पाँच-दस खेजा बीड़ी ले आऊँगी तेरे लिए।" बातों से ऐसा लग रहा था जैसे बूढ़ी रत्ती भर भी कुड़िम के हुकुम की परवाह नहीं करती।

कुड़िम और भी नरम पड़ गया। मैं तो बनवासी के पसरा (शाक-सब्जी की छोटी दुकान) से उधार लाने को कह रहा था। उसकी नरमी देखकर कोई भी कह सकता था वह एक खेजा बीड़ी के लिए अब माँ के पाँवों पर गिर पड़ेगा। यही है कुड़िम का चरित्र। गाली-गलौज और हाँय-फाँय से जब उसका काम नहीं बनता तब वह ताबड़-तोड़ कुछ नहीं करता बल्कि सीधे पाँव पकड़ लेता है। अब तक जितने लोगों ने उसके मुँह से गाली-गलौज सुना है उससे कहीं ज्यादा लोगों ने उसका पाँव पकड़ना देखा है।

बूढ़ी का नियम कुछ उलटा है। वह अंत तक झुकती नहीं। कुड़िम के चिल्लाने पर वह उससे ज्यादा चिल्लाती है। उसे पता है कि जो चिल्लाते हुए थक जाता है, वह लड़ाई में हार जाता है। इसी सत्य पर अमल करते हुए उसने अपने चारों बेटों को काबू में रखा है। आज बहुएँ आ गई हैं तो कुड़िम को छोड़ बाकी बेटे हाथ से निकल गए वर्ना क्या मजाल की कोई माँ की बातों को टाल दे। बूढ़ी अपनी जवानी में ही विधवा हो गई थी पर जबान सख्त थी इसलिए बच्चों को पाल-पोस पाई, वरना आजकल विधवा को पूछता कौन है।

अपने पुराने तेवर को बरकरार रखते हुए बूढ़ी ने कुड़िम पर पलटवार किया, "तेरे को कौन उधार देगा रे रई। अगर तुझे कहीं से उधार मिलता है तो जाकर ले आ।"

"बनवासी के पसरे से न सही तो मनई के पसरे से ले आ। कल हाट से लौटते ही चुकता कर देंगे।" कुड़िम ने विनती की।

बूढ़ी ने कुड़िम की नकल उतारते हुए कहा, "मनई का पसरा। शर्म नहीं आती मनई का नाम लेते हुए, बेशरम! पिछले महीने मनई के पसरे से तुम्हारे कहने पर पाव भर टमाटर ले आई थी। अभी तक वो उधार चुकता हुआ है तुमसे? उस रास्ते से मेरा आना-जाना बंद हो गया है।"

"कल हाट से लौटने तो दो, जिस-जिस का जितना उधार है, सब चुकता कर दूँगा।" कुड़िम ने जवाब में कहा।

बूढ़ी बड़बड़ाने लगी, "रई! उधार चुकता करेगा। पता नहीं शनिवार को हाट से घर आएगा या जेल जाएगा, कहता है उधार चुकता करूँगा। शर्म नहीं आती है रई, इतनी बड़ी-बड़ी बातें हाँकते हुए।"

कुड़िम को लगा कि माँ से काम निकालना लोहे के चने चबाने जैसा है। अगर उसने मन में ठान लिया है तो अब बिलकुल नहीं जाएगी। यूँ बातें करते रहने से मुँह थकने के सिवा कुछ नहीं होगा। उसे लगा कि अंततः उसे ही कहीं से बीड़ी लानी होगी। कुड़िम ने बीड़ी के चक्कर में खुद को तबाह कर रखा है। उसकी उधार पीने की आदत छूटती नहीं जिसके चलते उसे न जाने क्या-क्या करना पड़ता है।

आखिरकार, कुड़िम चारपाई से उठ खड़ा हुआ। कुछ देर पहले उसने माँ को सुनाने के लिए पूरा जोर लगाकर आवाज लगाई थी, और अब शरीर में कुछ जान लाने के लिए जोर की अंगड़ाई ली। उसके घर से निकलते वक्त उसे सुनाते हुए माँ बड़बड़ाती रही सुबह से घर में चूल्हा जला नहीं। पाव भर चावल कहाँ से आएगा, उसकी चिंता नहीं है रई को। मरा जा रहा है बीड़ी के लिए। मर जाता रई किसी मोटरगाड़ी के नीचे या फिर थाना-हाजत में। बूढ़ी की बातों का कुड़िम पर कोई असर न हुआ। देखते ही देखते वह बाहर निकल गया। पीछे से बूढ़ी हड़काते हुए कहने लगी, "कोढ़ी कहीं के, कपड़े तो ठीक से पहना कर। बूढ़े हो चुके हो पर लुंगी तक पहनना न आया, रई।" फिर शरमाते हुए कुड़िम ने लुंगी के फटे हुए हिस्से को नीचे की तरफ किया।

दोपहर बीतने चली थी। भोजन के बाद आराम कर रथी मिश्र ने अभी-अभी दुकान खोली थी। उसकी दुकान पर कुछ देर तक कोई खरीददार नहीं आया, और आए भी तो कैसे? उसकी दुकान से दो कदम आगे निर्मल साहू ने जो दुकान खोल रखी है। सरकार की अक्ल भी गुम हो गई मालूम पड़ता है। ऐसा आदमी जो दिमाग से कमजोर है और जिसके लिए इम्तिहान पास करना नामुमकिन है, उसको सरकार 'आप कमाएगा खाएगा' कहकर हजारों रुपए बैंक से कर्ज दे देती है। इससे भला उसका दिमाग चलने लगेगा क्या? लड़की देखते ही देगा तो भला दुकान में भीड़ क्यों नहीं होगी। सरकारी पैसे की दुकान है तो कोई फिक्र नहीं। बाप-दादा की कमाई से दुकान खोली होती तब न चिंता होती। आखिर, कब तक चलेगा तुम्हारा दाता-दानीवाला यह व्यवहार। साल भर में दुकान का दिवाला न निकला तो मेरे नाम पर थू-थू करना। देखना एक दिन तुम्हारा केजी-तराजू कबाड़ीवाले के पास न बिका तो मेरा नाम बदल देना। रथी मन ही मन निर्मल साहू को कोस रहा था। उधार का खाता पलटते हुए वह सोच रहा था कि स्कूल के मास्टर और पंचायत सेक्रेटरी अगले हफ्ते महीने का उधार चुकाने आएँगे। अब महीना खत्म होने चला था। बूढ़े मास्टर ने तीन महीने से

फूटी-कौड़ी तक नहीं चुकाई थी। रथी ने सोचा कि वह कह देगा, मास्टरजी आप मुश्किल में हैं पता है, पर मेरी हालत पर भी थोड़ा ध्यान दीजिए। पहले पुराना हिसाब चुकता कीजिए, फिर नया सौदा ले जाइए। इतना कहने के बाद बूढ़ा अगले दिन से आएगा ही नहीं। फिर बूढ़ा निर्मल साहू की दुकान में जाया करेगा, इस तरह लोटा भी गया और पानी भी। रथी मिश्र अपनी दुकानदारी से सचमुच बहुत नाराज था। इसका सारा कसूर वह निर्मल साहू पर लाद रहा था। बूढ़े गौन्तिआ (गाँव का प्रधान) के ऊपर भी वह खासा नाराज था। गाँव में उसकी चलती है सो रोज-रोज उधार लेने के बावजूद भी उसे कोई उधार चुकाने को नहीं कहता। सामान नहीं है, कहने पर भी काम नहीं चलता। चाहा तो लोग लगाकर दुकान लुटवा देगा, क्या मुसीबत है? रथी अपने दुश्मनों को गरिआते हुए कल शनिवारी हाट से लानेवाले सामान की लिस्ट तैयार कर रहा था। यह सारे काम साथ-साथ चलते रहते हैं। सामान की लिस्ट तैयार करते वक्त उसका दुश्मनों पर बरसने का काम पीछे नहीं छूटता।

रथी की दुकान पर ठीक उसी वक्त कुड़िम पहुँचा। पहुँचकर उसने 'पाँव लागी' कहा पर रथी ने उस पर कोई ध्यान न दिया। 'पाँव लागी' सुनते ही वह समझ गया कि यह उधार का ग्राहक है। वैसे भी कुड़िम ठहरा बदनाम। ऐसे आदमी से दूर रहना ही भला।

रथी के हाव-भाव से कुड़िम ने भी अनुमान लगा लिया कि आज साले ब्राह्मण की दुकान से उधार मिलना मुश्किल है। उधार माँगकर अपना मुँह ही खराब करना पड़ेगा। अभी अगर बूढ़ा गौन्तिआ आया होता तो रथी डर के मारे न जाने कबसे हाँ जी, हाँ जी करता फिरता होता। सामान क्या, बूढ़ा गौन्तिआ गर आँख दिखा दे तो रथी अपनी अधेड़ बीवी को भी सौंप देगा। साला, डरपोक कहीं का। कुड़िम को भला क्यों पूछेगा। खैर जब इतना कष्ट करके वह आया है तो आखिर बोलने में हर्ज ही क्या है। यह सोचकर उसने कहा, "मिसिर काका, तेरी दुकान तो खूब चमक रही है। निर्मल साहू को कितना भी सरकारी पैसा क्यों न मिले पर क्या फर्क पड़ता है। उसकी दुकान भला तुम्हारे जैसी कभी हो सकती है क्या?"

इतनी चापलूसी के बावजूद भी रथी का मन न बदला। वह और निश्चिंत हो गया कि कुड़िम उधार माँगने आया है, और वह भी जन्म-उधार, जो उससे जिंदगी भर चुकता न होगा। अगर हाथ में पैसे होते तो कुड़िम जी भर शराब पीकर अपने सारे दुश्मनों को माँ-बहन की गाली दे रहा होता। पैसा नहीं होने पर ही वह चापलूसी करता है, बाप-चाचा

कहकर बुलाता है।

"एक बंडल बीड़ी देगा? कल हाट से लौटते ही हिसाब चुकता कर दूँगा, कसम खाकर कहता हूँ", कुड़िम ने अपनी बात को सीधे-सीधे रख डाला।

"बीड़ी दुकान में नहीं है", कहकर रथी ने काफी गंभीर होने का प्रयास किया। उसे पता है कि कुड़िम को दुकान से भगाने के लिए गंभीरता ही सबसे अच्छा उपाय है। अगर वह गंभीर न बने तो वो साला चोर कहीं का यहाँ से उठेगा ही नहीं।

दुकान के अलमारी पर सजे हुए बीड़ी के बंडलों की ओर दिखाते हुए कुड़िम ने कहा, "वह तो दिखाई पड़ रहा है काका। झूठ काहे कह रहे हो। बस आज भर दे दो। कल हाट से लौटते ही पहले तुम्हारा हिसाब चुकता करूँगा, नहीं तो मेरा चेहरा नहीं नजर आएगा आगे से। कहोगे तो कोई सामान भी ला दूँगा हाट से। कहो तो टेरीकॉट लूंगी ले आऊँगा जिसे देखकर मेरी काकी खुश हो जाएगी। फिर, तुम जिंदगी भर याद रखोगे।"

रथी मिश्र ने अब सिर ऊपर किया। एक बार अच्छी तरह कुड़िम को सिर से पाँव तक देख लेने के बाद कहा, "तुम कुड़िम ही हो ना? अभी तक क्या-क्या सामान लाए हो रथी मिश्र के लिए मुझे याद नहीं है क्या? पिछले साल पचास रुपए लिए थे एक रेडिओ लाने के लिए पर नौ महीने बीतने के बाद भी रेडियो तो दूर मेरे पैसे भी तुमने नहीं लौटाए। निर्मल साहू की दुकान में क्यों नहीं जाते? तुम्हारा बाप है न वह। उसी के यहाँ से उधार लिया करना। रथी मिश्र की दुकान में भंडार खुला है क्या?"

"रेडियो का नाम न लो मिसिर। बटखरा चोरी के इल्जाम में उस दिन मंदिर के दलान में तुमने मुझे मारा था न, उसके बाद और किस चीज के पचास रुपए। तुम मारोगे और उसके बाद उधार चुकाने के लिए भी कहोगे। वह हिसाब पूरा हुआ। हाँ, पैसे के लिए न मारे होते तब मैं मानता और कब का दे भी चुका होता रेडियो", कुड़िम बोला।

"तुम कुछ भी कहो कुड़िम, तुम्हारे बात का कोई भरोसा नहीं है।"

"भरोसे की बात मत करना मिसिर। कुड़िम कभी किसी को ठगता-वगता नहीं। वह जो भी करता है दिखा-सुनाकर करता है। बटखरा चोरी के नाम पर अगर तुमने मुझे उस दिन न मारा होता तब रेडियोवाली बात कहने का तुम्हारा हक बनता" , कुड़िम ने कहा।

रथी ने इस पर कहा, "क्या कुड़िम, तुम बूढ़े होने को आए पर अभी तक अक्ल नहीं आई। उस दिन क्या मैं पूरे गाँव में चिल्ला-चिल्ला कहता

कि चोरी का माल देने के बदले कुड़िम ने मेरे से पैसा लिया था पर अब देता नहीं। तुम चोरों की तो कोई इज्जत नहीं है, ये तो सबको पता है पर तुम्हारी तरह हमारी भी इज्जत नहीं है क्या?"

"छोड़ो छोड़ो। बातें करते-करते मेरे मुँह का थूक सूख गया है। एक बंडल बीड़ी दो, मैं चलूँगा", कुड़िम ने कहा।

"तुम मुझे बुद्धि सिखा रहे हो कुड़िम, जा चलता बन यहाँ से। शाप के वक्त अभी बोहनी भी नहीं हुई है और तुम्हें उधार दूँगा।" रथी सिर नीचे करके सामान की लिस्ट तैयार करने लगा।

"ठीक है। बोहनी करने पर तो दोगे ना। मैं इंतजार करूँगा।" इतना कहकर कुड़िम रथी के सामने पड़े एक टिन के डिब्बे पर चुपचाप बैठ गया।

"तू बेशक बैठा रह, पर नहीं दूँगा। हाँ, सुन ले बोहनी के बाद भी नहीं दूँगा। तू पहले अपने कहे मुताबिक लुंगी लाकर दे तब जाकर कहीं बात बनेगी।"

"मैंने कहा ना, ला दूँगा, बात पक्की।"

"ना, पहले माल ला तब बात कर मेरे से। फालतू में मेरा टाइम नुकसान मत कर।" कुछ देर तक खामोशी छाई रही। न तो रथी ने कुड़िम से कुछ कहा और न ही उसकी ओर देखा। आखिर कुड़िम जैसे आया था वैसे ही रथी की दुकान से निकल गया। जाते-जाते भी उसने रथी से 'चलता हूँ तब' नहीं कहा। अंततः रथी मिश्र की गंभीरता ने ही उसे कुड़िम से मुक्ति दिलाई।

उधर कुड़िम जाते-जाते बड़बड़ा रहा था। साला! कहता है टाइम नुकसान। हाय रे मेरे अंग्रेज की औलाद। इतनी अंग्रेजी आती है तो एस.पी. कलेक्टर क्यों नहीं हो जाता। चमारपाड़ा की अधेड़ औरतों को पटाते-पटाते टाइम बीत रहा है। साला! कहता है टाइम नुकसान मत कर। ग्राहक तो कोई आता नहीं दुकान में। मच्छर भगाते-भगाते दिन जा रहा है और टाइम नुकसान की बात करता है। उसकी बड़बड़ाहट में गुस्सा और हताशा भरी हुई थी।

कुछ देर इधर-उधर हो लेने के बाद कुड़िम फिर पहुँचा रथी की दुकान पर। ऊपरी पाड़ा की दो छोटी बच्ची चनाचूर लेने तब दुकान पर आई हुई थीं। रथी ने चावल के बदले कटोरी में जितना चनाचूर दिया था, उससे बच्चियाँ संतुष्ट नहीं थीं। वो कह रही थीं कि निर्मल साहू की दुकान में इतने चावल में इससे ज्यादा चनाचूर मिलता है। व्यंग और कटुता भरी आवाज में पलटवार करते हुए रथी ने कहा, "अरी छोरिओं और

दो-चार साल बाद तो निर्मल साहू तुम्हें बिना चावल का भी चनाचूर देने लगेगा। होशियार रहना उससे।" यह सुनते ही बच्चियाँ खिलखिलाकर हँसती हुई भाग गईं।

उनके जाने के बाद रथी ने काफी नाराज होते हुए कुड़िम से कहा, "मैंने कह दिया है न, बिना माल के मेरी दुकान में न आना।"

अपनी लूंगी के फेंट से सौ ग्रामवाले एक चाय के पैकेट को हल्का सा दिखाते हुए कुड़िम ने कहा, "मैंने कहाँ मना किया? एक बंडल बीड़ी और साथ में आधा किलो चावल दोगे तो निकालूँगा।"

"अरे! मेरी दुकान में चाय का पैकेट भरा पड़ा है भाई। मैं चाय का क्या करूँगा?" रथी ने जवाब दिया।

"तुम्हारी दुकान में किस चीज की कमी है कहो तो भला। यह दूसरी बात है कि जरूरत के वक्त माँगने पर मना कर देते हो। खैर, रखना है तो बोलो, नहीं तो मैं चला निर्मल साहू की दुकान में। वह बिना कहे एक बंडल बीड़ी और आधा किलो चावल दे देगा। पर तुमसे प्रेम है इसलिए मैं तुम्हें कह रहा था।" कुड़िम के तेवर को देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वह आधा घंटा पहले एक बंडल बीड़ी के लिए गिड़गिड़ा रहा था। उसके मन में रथी मिश्र के प्रति रत्ती भर भी खातिर नहीं थी। वह सोचता था कि जब उसके हाथ में माल है तो वह किसी की खातिर क्यों करे भला?

रथी भी कोई कम उस्ताद नहीं है। उसने सोचा कि जब कुड़िम खुद ही इतना कम माँग रहा है तो कुछ और भी कम हो सकता है। उसने कुड़िम से कहा, "जाते क्यों नहीं निर्मल की दुकान में?"

"क्या चाचा, अभी थोड़ी देर पहले तुम माल के लिए डाँट-डपट रहे थे लेकिन अब जब माल लाया हूँ तो कहते हो कि निर्मल के यहाँ दे आओ।"

रथी बोला, "अरे भाई। हम दुकानदार होल सेल रेट से इस चायपत्ती के पैकेट को बीस रुपए में दे रहे हैं। अब ऐसे में यदि चोरी का माल भी बीस रुपए में खरीदूँ तो क्या खाक बिजनेस करूँगा।"

वाह रे बिजनेस! रथी की बात से कुड़िम अंदर ही अंदर मानो जल-भुन गया। सरकारी पेड़ के फट्टे से बनी बक्सनुमा एक छोटी सी गुमटी। पाँच सौ रुपए से ज्यादा का माल नहीं होगा दुकान में और कहता है बिजनेस। उसने रथी से कहा कि अभी कोई खरीदने आएगा तो इसी पैकेट का तीस-चालीस रुपए कहोगे और जब बेचने आया हूँ तो कहते हो कि पाँच रुपए से ज्यादा नहीं दूँगा। वाह रे मेरे बिजनेसवाले।

इतने में प्रधान के घर का लड़का दुकान से कुछ खरीदने आया। उसे देख कुड़िम ने अपनी लुंगी के फेंट में चाय के पैकेट को ठीक से ढक लिय मानो उसने इस पैकेट को प्रधान के घर से चुराया हो। लड़के के जाने के बाद फिर वह अपनी बात पर लौट आया। "अच्छा फाइनल बात बोलो, कितना दोगे चाय का। मुझे घर जाना है। माँ इंतजार कर रही है चावल के लिए।"

रथी ने भी फाइनल बात की, "एक बंडल बीड़ी के साथ पाव भर चावल।" अब दुकान में भी भीड़ जुटने लगेगी। कुड़िम से सौदा जल्दी निपटाना चाहिए।

कुड़िम ने चावल और बीड़ी अपने हाथ में लेने के बाद रथी से माचिस माँगी। एक बीड़ी सुलगाकर उसने एक और बीड़ी रथी की ओर बढ़ाते हुए कहा, "ले चाचा, तुम भी क्या याद रखोगे।"

यह रथी मिश्र को काफी अपमानजनक लगा। पहले की भाँति गंभीर बनते हुए उसने कहा, "दुकान के अंदर मैं बीड़ी नहीं पीता।"

कुड़िम ने तपाक से कहा, "वह तो अपनी बीड़ी। अगर किसी की दी हुई बीड़ी हो तो परहेज कैसा? ले लो।" कुड़िम यह कहते हुए रथी मिश्र के काफी करीब आ गया था। करीब आकर उसने रथी से पूछा, "कहाँ से चाय का पैकेट लाया हूँ, तूने पूछा नहीं चाचा?"

"मुझे पता है, निर्मल साहू की दुकान से। है ना?" रथी ने आश्वस्त होकर कहा।

एक लंबा कश खींचने के बाद कुड़िम ने कहा, "ना मिसिर ना। तेरी दुकान से। जब मैं उधार माँगने आया था तो तुमने गुस्से में मुझे देखा तक नहीं। तुमने माल लाने को कहा तो मैंने तुम्हारा ही ले लिया। और अब ले आया।" इतना कह कुड़िम गाँव के गौन्तिआ के माफिक रौब से निकल गया।

कुड़िम की बात सुनकर रथी मिश्र चौंक सा गया। उसे ऐसा लगा जैसे किसी ने उसके गाल पर तमाचा जड़ दिया हो। उसने मुँह लटकाकर कुड़िम को दुकान से जाते हुए देखा। उसे पता था कि एक बार चोर कुड़िम के हाथ बीड़ी का बंडल और चावल लग जाने पर किसी भी उपाय से नहीं लौट सकता। गाँव में यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसने अपनी ही दुकान से चुराया हुआ माल कुड़िम से खरीदा है। सच है कि गुप्त स्थान का घाव न तो स्वयं देखते बनता है और न ही औरों को दिखाया जा सकता है।

कुड़िम ने घर पहुँचते ही माँ को चावल दिया और माँ से कहा, "चावल के लिए कह रही थी ना, सो ले आया हूँ। थोड़ा सा चावल देकर

बनवासी के पसरे से मिट्टी का थोड़ा खार भी ले आना। मेरी धोती गंदी है, उसे साफ करना है ताकि पहनकर कल हाट जा सकूँ।"

मिट्टी का खार खरीदने बूढ़ी घर से निकली। उसके पीछे-पीछे नातिन बच्ची भी चली। कुड़िम की अपनी मां से बस इतनी सी बातचीत हुई। चावल कैसे, कहाँ से आया, इन सारी बातों से बूढ़ी को कोई मतलब नहीं। अगर वे लोग किसी काल्पनिक उपन्यास के पात्र हुए होते तो बूढ़ी बेटे को हाट में जाने से रोकती अर्थात् चोरी न करने के लिए कुछ उपदेश देती। खुद बूढ़ी खल चरित्र होती तो हाट में होशियारी से काम लेने को कहती। यह भी संभव है कि वह अपने दिवंगत पति की तस्वीर के आगे रोते-रोते यह कहती कि कुड़िम के बापू आज आप जिंदा होते तो क्या मुझे यह दिन देखने को मिलता? चोरी करने भेजती? मैं इतनी अभागिन हूँ कि अपने बेटे को गलत रास्ता दिखा रही हूँ। चोरी करने, पकड़े जाने, जेल में चक्की पीसने के लिए अपने बेटे को खुद सजा-धजाकर भेज रही हूँ मैं। ऐ दुनियावालो, आओ देखो इस अभागिन को!

पर बूढ़ी ने ऐसा कुछ नहीं कहा। चूँकि लोगों से पैसे उधार लेना, उधार न चुकाना, पुलिस के हाथों पकड़े जाना, यानी हाजत में जाना आदि बातें कुड़िम की जिंदगी में आम हो गई हैं। बूढ़ी को भी न सोचना आता है न रोना और न ही इन सारी चीजों के लिए उसके पास समय है। वह जानती है कि अगर वह अपने भाग्य पर रोती-बिलखती रही तो पूरा दिन रोने में ही गुजरा करेगा और दूसरे कामों के लिए उसे तनिक भी समय न मिलेगा। चार बेटे जब सही रास्ते चले, कमाया-धमाया पर बूढ़ी माँ को मुट्ठी भर पखाल (पांताभात, पानी में भिंगोया हुआ बासी भात) देने में हमेशा आनाकानी की तो उनसे अच्छा तो यही शराबी, चोर और गँजेड़ी लड़का है जिसने माँ को कभी नहीं ठुकराया। उसने माँ को दो जून रूखा-सूखा खिलाने में कभी हो-हल्ला नहीं किया। जैसे भी बना पहनने के लिए मोटा-सोटा दो जोड़ी थान का कपड़ा दिया। अगर कोई बहू उसे कुछ बोले तो उनकी जुबान तक खींच सकता है उसका यह बेटा। बूढ़ी आगे सोचती है कि बाकी बेटों की देखभाल के लिए तो उनका घर-परिवार भी है पर कुड़िम तो बेचारा अकेला ठहरा, सिर्फ अकेला। इस बूढ़ी माँ के सिवाय दुनिया में भला कौन है उसका। जबसे उसने उसकी कोख से जन्म लिया तबसे वह माँ की ही देखभाल में तो है। इस देखभाल के दौरान न जाने कितने ही लड़ाई-झगड़े हुए दोनों में, पर प्यार में कभी कमी न

हुई। कभी बूढ़ी कुड़िम को मरने-खपने की बात कहती है तो कभी कुड़िम माँ को मारता-पीटता है। इसके बावजूद उनका साथ नहीं छूटता।

जवानी में जब कुड़िम शराबी और चोर हो गया, थाना-जेल जाने लगा तो भाइयों ने उसे छोड़ दिया। मंगलू ने कुड़िम से नाता न तोड़ने पर माँ से रिश्ता खत्म कर डाला। कुड़िम तो बस बहाना था। असल में बहुएँ, सास को बोझ समझ रही थीं। ऐसे में कुड़िम के सिवा बूढ़ी के पास कोई दूसरा रास्ता भी तो नहीं था। हालाँकि बूढ़ी का बहुओं के यहाँ आना-जाना है पर उनसे मन नहीं मिलता। कुछ साल पहले की बात है एक दिन कुड़िम गोरी सी औरत और उसके दो बच्चों को लिए हाट से लौटा। उसने माँ से कहा कि ये लोग अब यहीं रहेंगे। यह सुनकर बूढ़ी बिदक गई और खाना-पीना छोड़ दिया। इस पर कुड़िम ने माँ से कहा, "माँ इसका पति पराई औरत के साथ भाग गया है। ऐसे में यह कहाँ जाएगी? अब यह मेरे पास ही रहेगी। यह जानकर भाई लोग भी उसे मारने आ गए। बूढ़ी ने जब पूछा तो पता चला कि वह लड़की तो अछ्छव (अछूत) है।

इस पर कुड़िम ने कहा कि चाहे वह औरत किसी भी जात की हो उसे कोई परवाह नहीं। बेचारी! इतनी दुखी है, कहाँ जाएगी? कुड़िम ने उसके लिए अछ्छवपाड़ा में घर बनवाया और उसे वहीं रखा। उसने उसके दोनों बच्चियों की शादी कराई। बाद में जब वह औरत गुजर गई तो उसका काम-काज भी किया। कुड़िम को जात-बिरादरी से भी बाहर होना पड़ा। यही नहीं, उसे न जाने कितने अपमान सहने पड़े और घर में उसका आना भी बंद हो गया। इसके बावजूद भी उसने माँ की देखरेख में कभी कमी नहीं की। रात के अँधेरे में वह उसे पैसे दे जाता था। दूसरे बेटों की तरह अगर उसने भी माँ को जोरू की खातिर घर से निकाल फेंका होता तो बूढ़ी भला क्या करती?

गाँव की सयानी औरतें बूढ़ी को कहती रहती हैं, "कुड़िम की माँ! जब कुड़िम तुम्हें इतना तंग करता है, शराब पीता है, आए दिन पुलिस उसे ढूँढ़ने गाँव पहुँच जाती है, तुम्हें मारता-पीटता है और अब तो उसने अछ्छव औरत को रखैल भी रख रखा है तो तुम उससे दूर क्यों नहीं रहती हो। मैं होती तो भीख माँगकर गुजारा कर लेती पर ऐसे कपूत को पास न आने देती।

इस पर कुड़िम की माँ नाराज होकर कहती, "मुझे मारता-पीटता है तो तुम्हें भला क्यों कष्ट होता है? क्या मैं उसकी शिकायत करने तुम्हारे

पास आई हूँ? पहले अपना घर देखा करो। चली आती है सब सलाह देने।"

सलाह देनेवाली औरतें इतना सुनकर अपना रास्ता नाप लेतीं। कुड़िम से नाराज बूढ़ी जब कभी रोती-बिलखती है तो उसे चिढ़ाते हुए कहती हैं, "चोर की माँ जब भी रोती है, बेटे के गुण सुमरते हुए रोती है।"

सुबह-सुबह नहा-धोकर कुड़िम ने मिट्टी खार से साफ की हुई धोती पहनी। फिर, दीवार की खूँटी पर टँगे कुरते को झाड़-झुड़कर पहन डाला। ये दोनों ही कपड़े सिर्फ हाट के दिन निकलते। बड़े आदमी की तरह दिखने के लिए साफ धोती और कुरता। बस इतना जानता है कुड़िम। पाँव में चप्पल, हाथ में घड़ी, आँखों में चश्मा और कंधे पर गंगा-यमुना या टर्किस तौलिया जैसा कुछ भी नहीं है उसके पास। उसे लगता है कि चोरी करने के लिए इन सारी चीजों की जरूरत भी नहीं है। आज जमाना ऐसा है कि पुलिस की वर्दी की तरह महँगे कपड़े, जूते-मोजे पहननेवाले को लोग चोर कहते हैं। ऐसे को लोग मारते-पीटते हैं या फिर लूट लेते हैं। सबसे अच्छा यह साधारण कपड़ा है जिससे किसी को भनक तक नहीं लगती कि पहननेवाला चोर है।

घर से निकलने के पहले उसने जेब को टटोला तो पाया कि दो रुपए में आठ आना कम है। गाँव से शहर होते हुए हाट जाने का किराया दो रुपया है। हाट से लौटते हुए भी कुड़िम दो रुपया जरूर बचाए रखता है ताकि भाड़े में काम आए। चाहे लाख जरूरत पड़े पर वह उस दो रुपए को बिलकुल नहीं छूता है। घर से निकलने के बाद हाट जाने तक वह किसी लफड़े में नहीं पड़ना चाहता है। पैसे खुदरे थे तो वह उन्हें दुबारा गिनने लगा। दो रुपए में आठ आने कम पाकर उसका दिमाग गोल हो गया।

नाराजगी जाहिर करते हुए कुड़िम ने माँ से कहा, "माँ, मेरी जेब से क्या तुमने पैसा लिया है?"

बूढ़ी ने इस पर कोई जवाब नहीं दिया। उसे पता है कि कुड़िम के गाड़ी भाड़ावाले पैसे को नहीं छूना है पर मजबूरी में उसने वहाँ से पैसे लिए हैं। सोचा था, कुड़िम की नजर पड़ने से पहले उसे भर देगी पर ऐसा हो नहीं पाया।

माँ को चुप पाकर कुड़िम चिल्लाने लगा। कितनी बार मैंने इस पैसे को छूने से मना किया है। तुझे पता है, इस पैसे से मैं बीड़ी भी नहीं खरीदता फिर भी इन्हें तुम लाट साहब की तरह खर्च कर देती हो। मर क्यों नहीं जाती कोढ़ी? कुड़िम के मन में जितना गुस्सा था उससे कहीं

अधिक उसे रोना आ रहा था। सोचता था, अब कम पैसे में उसे मोटर में कौन चढ़ाएगा। कहाँ से लाए वह पूरे पैसे?

आठ आने पैसे के लिए नामी-गिरामी चोर मन में जार-जार रो रहा था। कितनी विचित्र है ये दुनिया। बेपरवाह, बदमाश, चोर, डाकू, जैसे खलचरित्र भी छोटे बच्चे की तरह निरीह, निःसहाय और मासूम नजर आने लगते हैं जब हाथ में माल नहीं होता। जब जेब में पैसे हों तो डरपोक आदमी भी कड़क और बेधड़क हो जाता है।

तेल, नमक, लकड़ी, चावल, सब कुछ जब खरीदना पड़ता है तो एक-आध रुपए इधर-उधर होंगे ही। इसमें बेचारी बूढ़ी भी क्या करेगी। अगर कुड़िम सारा कुछ लाकर रख दिया करता तो बूढ़ी भला उसके पैसे क्यों छूने जाती। देने को बूढ़ी के पास जवाब था पर वह चुप रही। वह जानती थी कि चुप रहने में ही भलाई है।

कुड़िम को भी पता है, माँ से कहने का कोई फायदा नहीं। उसे आठ आना लेना ही आता है, देना नहीं। पर देखते हैं, गाड़ीवाला शायद इतने में ही मान जाए।

पर यह गाड़ीवाला एक पैसा भी न छोड़नेवाला बंदा है। कहता है सरकारी मोटर है, उसकी नौकरी चली जाएगी। भाड़े में एक पैसा भी कम नहीं होना चाहिए। इसके बाद कुड़िम ने मोटर पर सवार एक-एक आदमी को देखा ताकि कोई जान-पहचान का मिल जाए। उसकी नजर ने पाटपुर गाँव के नंद साहू को सीट पर बैठा पाया। कुड़िम नंद को पहचानता है और नंद भी कुड़िम को। वैसे भी पाटपुर और कानागाँव एक ही गाँव जैसे हैं। पाटपुर से मोटर ने भोंपू बजाया और कानागाँव के लोग उसमें चढ़ने को सड़क की ओर निकले। नंद से कुड़िम ने कहा, "दादा, आठ आना दे दो, हाट से लौटते वक्त ऊपर से और एक रुपया दे दूँगा।" नंद साहू ने साफ इनकार कर दिया। चाहता तो नंद साहू आठ आना दे सकता था पर सोचा, साला चोर का क्या भरोसा? हाट से लौटते हुए वह हाजत में भी जा सकता है। ऐसे लोगों से लेन-देन ठीक नहीं। पता नहीं कहाँ और कब फँसा देगा, नंद साहू ने सोचा।

फँसने-फँसानेवाली बात तो नंद ने अपनी तसल्ली के लिए कही थी। असल में वह अव्वल दर्जे का कंजूस है। पूस की ठंड में पाँव की चमड़ी फटी होगी। नहीं तो दो रुपया गाड़ी भाड़ा खर्च करके वह मोटर में कभी न चढ़ता। पाटपुर के लोग कहते हैं कि एक बार बेटी की नापसंद साड़ी

बदलने के लिए नंद साहू एक दिन में दो बार गाँव से हाट और हाट से गाँव पैदल हो लिया था। कुड़िम ने सोचा पाँच चौका बीस कोस रास्ता पैदल, बाप रे बाप!

कुड़िम की चोरी की जितनी कहानियाँ इस इलाके में फैली हुई हैं उतनी ही कहानियाँ नंद साहू की कंजूसी की भी। यह सब कुड़िम को भी पता है मगर क्या करे। संकट में तो गदहे का पाँव भी पकड़ना पड़ता है।

नंद ने जब पैसे उधार देने से इनकार कर दिया तो कुड़िम की मानो बुद्धि ही गुम हो गई। आखिरकार उसने मोटर के टिकट मास्टर से कहा, "इतने पैसे में जहाँ तक हो सके मोटर में ले चलो, उसके बाद उतार देना, पैदल चला जाऊँगा।" फिर नंद साहू की ओर इशारा करते हुए उसने कहा, "लोग तो पैसे के लालच में बीस-बीस कोस पैदल चल लेते हैं दिन भर में। मैं अगर एक-आध मील चल लूँ तो कौन से छाले पड़ जाएँगे मेरे पैरों में।"

गाड़ीवाला कुछ समझ नहीं पाया। और गाड़ीवाले को समझने की जरूरत भी क्या है? जिसको समझना था वह समझ गया होगा। कुड़िम मन ही मन खुश हुआ।

इस बार हाट में कुड़िम की कमाई ही कमाई हुई। कलकतिआ की दुकान से माल नापने का ऑर्डर दिया और देते समय चार बटखरे बड़ी सफाई से साथ में उठा लिए। इन भारी बटखरों को ढोने में परेशानी की वजह से उसने इन्हें गुजराती की दुकान में दस रुपए में बेच दिया। बूढ़े मारवाड़ी की दुकान में धोती देखने के बहाने दो महीन मार्सारिज धोती मार ली। धोतियाँ कटकिआ (कटक का) सूखी मछलीवाले को बेच उसने पचास रुपए नगद लिए और वहाँ उसने दो किलो सूखी मछली दाब ली। मछली हाटपदा के होटल में देकर बदले में उसने एक फुल मील खाया और दस रुपए लिए। साथ में, खाने के बाद हाथ पोंछने के लिए टँगा हुआ नया टर्किस टॉवेल को भी गोल कर दिया। इसके अलावा उसने तीन-चार पॉकेट भी मारी। सब कुछ जोड़ा जाए तो उसने डेढ़ सौ रुपए की कमाई एक ही हाट में की। इतना कोई कम नहीं। सबसे बड़ी बात यह थी कि किसी ने आज उसे एक तमाचा भी नहीं मारा था। ऐसा दिन हमेशा नसीब नहीं होता है। बीच में एक बार थानाबाबू मिले थे और पिछले हफ्ते थाने में हाजिरी न देने पर सौ बार उठक-बैठक करने को कहा। कुड़िम ने अभी उठना-बैठना शुरू ही किया था कि थानाबाबू ने धीरे से कहा, "पिपलानी

की दुकान से एक किलो रसमलाई डेरे पर पहुँचा देना, मेहमान आए हैं।" इतना कहकर वे चलते बने। कुड़िम की उठक-बैठक तब तक दस मरतबा भी पूरी नहीं हुई थी। यह सचमुच शुभ दिन जो था कुड़िम का।

काम पूरे होते-होते शाम होने को हुई। कुड़िम अब स्टेशन के पासवाले होटल में घुसा और भरपेट पेड़ा और रसगुल्ला खाया। खाने के बाद उसने माँ के लिए भी एक पैकेट बँधवाया। आज का गाड़ी भाड़ा, अगले हफ्ते का गाड़ी भाड़ा और शराब-बीड़ी के पैसे को छोड़ उसने माँ को सौ रुपए देने का निश्चय किया। इसके बाद पूरे हफ्ते भर की छुट्टी और आराम फरमाने का समय। बीच में तालपाली के मॉफसल हाट में भी जाया जा सकता है पर कुल मिलाकर छोटी-मोटी कमाई। आखिर मिलता क्या है वहाँ? किसी की पुरानी चादर, किसी की हवाई चप्पल तो किसी की बेंत की छतरी – सारे जो दुखी आत्मा ठहरे। जो मजा कलकतिआ या मारवाड़ी की गद्दी से कमाई करने में है वो तालपाली के सड़ियल हाट में कहाँ? कुड़िम ने अपने आपसे कहा।

खुश-खुश कुड़िम जब गाड़ी पकड़ने स्टेशन आ रहा था, रास्ते में अपने भाइयों को मन ही मन गरिया रहा था। साले, दूसरों के घर पर खटते-खटते मरेंगे और बीबी-बच्चों को भी मारेंगे। आराम क्या चीज है यह तो उन्होंने कभी जाना नहीं। अगर कभी जी भरकर उन्होंने खाया भी होगा तो सपने में। साले ईमानदार जो ठहरे। मरो साले, ईमानदार के बच्चे।

कमाई के दिन भाइयों को गरियाना और स्वयं मुसीबत में पड़ने पर अपने किए पर पछताना कुड़िम की आदत सी हो गई है। अगर चोरी करते कहीं पकड़ा जाता है तो बड़बड़ाना शुरू कर देता है, भले पेट न भरता हो पर उसके भाइयों को कम से कम उसकी तरह मार तो नहीं खानी पड़ती। पर आज उसकी कमाई का दिन है तो भाइयों को उससे गाली सुननी पड़ेगी।

स्टेशन पर खड़ी मोटर में जब कुड़िम चढ़ा तो अँधेरा हो चला था। चढ़ने पर कुड़िम की नजर गाड़ी के अंदर बैठे नंद साहू पर पड़ी। नंद को देखकर कुड़िम खुशी से फूला न समाया। कुड़िम नंद साहू की बगलवाली सीट पर बैठा और सोचने लगा। साला कंजूस कहीं का। कुड़िम ने पूछा, "दादा, और क्या-क्या खरीदा हाट से?" पूछने के बाद उसने जेब से रुपयों को निकालकर गिनना शुरू किया। ऐसा लगता था मानो नोट कभी खत्म ही नहीं होंगे। गिनते समय उसने दस-पाँच के नोटों को नीचे रखा और ऊपर में एक और दो के नोट रखता रहा। इसके बाद पुराने नोटों को ऊपर

करते हुए नए नोटों को नीचे किया। ऐसा करने के बाद नोटों के तस्वीरवाले हिस्से को एक तरफ किया। इतने से भी जब उसकी खाज नहीं मिटी तो नोटों की दुबारा गिनती शुरू कर दी।

इधर कुड़िम को ऐसा करते देखते हुए नंद साहू की हालत खराब हो गई। उसे पता चल गया कि कुड़िम अब उसे चिढ़ा रहा है पर वह चाहकर भी कुछ नहीं कर सकता। उसे तो इस बात का डर है कि कहीं कुड़िम उसका झोला न ले उड़े इसलिए झोले को हाथ से कसकर पकड़ रखा था।

कुड़िम के मन में एक नई तरकीब सूझी। छोटे बच्चे की तरह मुँह बनाते हुए कहा, "लेना है दो रुपया? लेना है पाँच रुपया? साले, आठ आने के हम आदमी नहीं हैं। मुनु साहू का लड़का कुड़िम साहू, अब चाहे तो एक मिनट में गिन लेगा सौ-पचास रुपए। इतने पैसे तो तुमने कभी देखे भी नहीं होंगे अपनी जिंदगी में। कम से कम अब अपनी आँखें खोलकर देख लो मेरे ये रुपए।"

नंद ने कोई जवाब नहीं दिया, चाहे शर्म के मारे या फिर डर से। उसकी बातें सुनकर वह अपनी सीट पर चिपक सा गया।

अड्डे से जब गाड़ी छूटी तो पूरी तरह से अँधेरा हो गया था। अँधेरे के कारण एक आदमी को दूसरे का मुँह नहीं दिख रहा था। नंद ईश्वर से दुआ माँग रहा था कि कानागाँव जल्द आ जाए और कुड़िम जल्दी से जल्दी गाड़ी से उतर जाए। रास्ते भर कुड़िम का राज उसके ऊपर चलता रहा। उसने कभी नंद के पाँव पर पाँव टिकाया तो कभी अपना शरीर उसके शरीर पर झुलाता रहा। सोचता रहा कि नंद ने अगर मुँह खोला तो साले को माँ-बहन की गाली बकेगा। इससे तो अच्छा होता कि जाने के वक्त वह उसे आठ आने दे देता। ऐसा करने पर कुड़िम उसे भी लाटरी की टिकट की तरह दो-चार रुपए तो दे ही देता। अगर, न भी देता तो इस मुसीबत से तो बेचारा बचा होता। यह भी संभव था कि कहने पर आठ आने के बदले नंदू को वह कोई महँगा माल दे देता। हाट से कुछ टोकरियाँ उसे सस्ते में मिली थीं। ऐसा लगता था कि बेचनेवाला कुछ मजबूर था नहीं तो टोकरियाँ इतने कम दाम में नहीं मिलतीं। खैर, चार दिन बाद जब बेटी ससुराल जाएगी तो काम आएँगी। बेटी के ससुराल जाने के ख्याल से उसके चेहरे की खुशी गायब हो चुकी थी।

कानागाँव से थोड़ा पहले पड़नेवाली देशी शराब की भट्ठी पर कुड़िम ने गाड़ी रोकने को कहा। अब मन भर शराब पीएगा। उतरने के वक्त उसने

हेल्पर से कहा, "गाड़ी के ऊपर मेरा कुछ सामान है, तुम्हें आने की कोई जरूरत नहीं, मैं उतार लेता हूँ।" अँधेरे में हेल्पर भी गाड़ी के ऊपर चढ़ने से बचना चाह रहा था। कुड़िम तपाक से गाड़ी के ऊपर चढ़ गया। उसने चुन-चुनकर नंद साहू की टोकरियों को नीचे उतारा। फिर गाड़ी चल दी। नंद साहू अब कुड़िम के उतरने के बाद गाड़ी के अंदर चैन की साँस ले रहा था।

इधर टोकरियों को लात मारते हुए कुड़िम उन्हें भट्ठी तक लाया। ऐसा करते वक्त उसे लग रहा था मानो वह टोकरियों को नहीं नंद साहू को लात मार रहा हो। वहाँ पहुँचकर उसने चूल्हा जलानेवाले दिरजू कुली से कहा, "ले तेरे लिए इतने सारे जलावन ले आया हूँ, पूरा फ्री। कोई कीमत नहीं इसकी। जा मालिक से कह, महँगाई के इस जमाने में मैंने ये महँगे जलावन बिल्कुल मुफ्त दिए। अच्छावाला माल पिलाओ कि मन खुश हो जाए। आज का दिन नंद साहू और कुड़िम दोनों को याद रहे।"

नए बाँस की टोकरियाँ जब भट्ठी के चूल्हे में जलने लगीं तो जोर-जोर से पट-पट की आवाज आने लगी। कुड़िम को लगा जैसे नंद साहू जोर-जोर से चिल्ला रहा हो, "मुझे बचाओ, मुझे बचाओ।" कुड़िम भाई ऐसी गलती मैं फिर कभी नहीं करूँगा।

भट्ठी पर मोटरवाली कहानी का विस्तार से बखान करते हुए कुड़िम जोर-जोर से हँस रहा था। सुननेवालों में दिरजू कुली ही अकेला था। शराब के नशे में धुत दिरजू भी अपनी धुन में था। कुड़िम की कहानी सुनते हुए वह 'हूँ' 'हाँ' भी नहीं कर रहा था। इसके बावजूद भी कुड़िम के जोश में कोई कमी नहीं आ रही थी। नंद साहू को उसने आज अच्छा मजा चखाया है। आज का दिन साला कंजूस उम्र भर याद रखेगा।

कुड़िम की गँजेड़ी हँसी और चूल्हे का धुआँ पूस की सर्दी को कम कर रहे थे। महाआनंद में कुड़िम बोतल से ग्लास में शराब उड़ेल रहा था और साथ ही साथ आग भी ताप रहा था। गहरी और अँधेरी हो चुकी रात से मानो उसका तो जन्म-जन्मांतर का प्रेम हो। डर का तो कोई नाम ही नहीं, बस प्रेम ही प्रेम।

गहरा प्रेम।

जो छूटने का, टूटने का या फिर मिटने का नाम न ले।

रविवार की सुबह

बाथरूम से नल की दर-दर आवाज। मनोज की नींद खुल गई। सात बज गए शायद। पानी आ गया। न जाने कौन खोल गया नल।

कपड़े साफ कर लूँ क्या? फिर सोचा, छोड़ो। हर रविवार को क्या कपड़े धोना। कभी मैले कपड़े पहन भी लिए तो क्या बिगड़ जाएगा। ट्यूशनवाले बुरा मानें तो मानें।

आज नौ तारीख है। कल पैसे जरूर मिल जाएँगे। पता नहीं इन लोगों को याद क्यों नहीं आती। शायद आती भी हो। 'लोग जितने बड़े होते हैं उन्हें पैसों की भी उतनी ज्यादा जरूरत होती है। तुम्हारे तीन सौ पचहत्तर रुपए ही सही चार-छह दिन के लिए हाथ में रुक जाएँ तो दुगुना कर लेंगे' दोस्त विमल ने कहा था उस दिन। चार तारीख से नौ तारीख। मतलब कल को मिलाकर छह दिन। हफ्ता भर जमा करो तो शायद बैंक भी एक डेढ़ रुपया ब्याज दे देता है। ये तो एक-एक घंटे का ब्याज लेनेवाले बनिए हैं, बनिए।

देखते-देखते जन्मदिन भी निकल गया। कुछ नहीं कर सका। केवल पैसों के कारण। दो-दो ट्यूशन करने के बाद सोचा था; चलो अब तो पैसों की तंगी नहीं रहेगी। गधे की तरह खटने पर हाथ खोलकर खर्च भी तो करने को मिलेगा। लेकिन कहाँ? कितने दिनों से योजना बनाई थी, इस बार जन्मदिन पर दिल खोलकर खर्च करेगा। सीमा को बुलाएगा। दिल खुलने की भी उसकी एक सीमा थी जो 'सीमा' नाम की उस लड़की तक सीमित थी। मनोज ने अपनी सोच पर टिप्पणी की।

-फ्री हो क्या सीमा एकाध घंटे।

-क्यों? जवाब में पूछेगी वह।

-मूनलाइट में चलकर डोसा खाते।

फिर वह जरूर पूछती– अरे आज यह डोसा क्यों? किस खुशी में भई?

-नहीं, बस यूँ ही। मनोज का संक्षिप्त सा उत्तर। कभी नहीं बताएगा वह सीमा को जन्मदिनवाली बात। नहीं तो वह शायद सोचेगी- अगले जन्मदिन पर कुछ उपहार पाने के लालच में मनोज अपने जन्मदिन का जिक्र कर रहा है।

फिर से चादर ओढ़ ली अपने ऊपर। मगर यह स्साला नल।

'स्साला और पैसों की तंगी तुम्हारा साथ कभी नहीं छोड़ेंगे, मनोज। तुम कहीं भी और कितना भी क्यों न पढ़ लो।' एक दिन विमल ने टोका था उसे- मनोज ने जवाब दिया था- 'तुम नहीं समझोगे मेरे दोस्त। महानगरी में आने के बाद ये मुझे अपनी रूट से जोड़ते हैं। मगर सीमा के सामने जवाब कुछ अलग था। 'क्या कहते हैं', की जगह 'साला' शब्द हम अहिंदीभाषी लड़कों को अपनी बातें कहने में मदद करता है। इसे कभी अन्यथा न लेना।' न सोने देगा न जागने। इसे तो बंद करना ही पड़ेगा। मजबूरन मनोज बाथरूम की ओर गया, नल बंद करने के बाद लौटकर एक बार फिर लेट गया बिस्तर पर। रविवार या सीमा की याद या फिर दोनों ने मिलकर या पता नहीं कौन लौटा लाया था उसे बिस्तर पर। मीठे सपने की तरह उस स्थिति को खोने का उसका मन ही नहीं करता था।

घर में जन्मदिन की बात छेड़ता और 3 मार्च की बात कहता तो माँ बोलती- "नहीं-नहीं होली के दिन तेरा जन्म हुआ था। हमें क्या पता अंग्रेजी तारीख-वारीख। तारीख तो तुम्हारे चाचा ने मिलाई थी। बाद में। बंबासपुर में मास्टरी करते थे उन दिनों। उनसे क्यों नहीं कहता जन्मदिन' मनाने को।" होली के दिन याद करा दो तो बड़ी बहन रुआँसी होकर कहती थी- "ओ हो ढेरों कढ़ाइयाँ चढ़ते हुए पाओगे अब अपने लाडले बेटे के जन्मदिन पर। पकौड़े, गुलगुले, खीर न जाने और क्या-क्या बनते रहते हैं। भला हमारे जन्मदिन को कौन याद रखता है!"

जबकि न जाने क्या-क्या में और कुछ भी नहीं होता था पिताजी उसकी बातों से पूरी तरह सहमत हो जाते और एक गर्व भरी मुस्कुराहट से (क्योंकि बहुत कुछ बनाने लायक गृहस्थी अब उनकी हो चुकी है) कहते थे-- 'इस बार रंजना के जन्मदिन पर एक नया और महँगा सूट सिलवा दूँगा' माँ की ओर देखकर फिर कहते थे-- पर याद दिलवा देना जरा पहले से।'

जन्मदिन तो मनाता है रमन। साल में दो बार-तीन बार। जितनी बार रूम में लड़कियाँ आईं उतनी बार। रूम में किराए का कारपेट बिछेगा।

दो ढाई सौ रुपए का केक काटा जाएगा। आधी रात तक ड्रिंक्स, डांस, डिस्को न जाने और क्या-क्या। जैसे कोई लाटरी खुल गई हो। जन्मदिन को कितना रोमांटिसाइज करता रहता है। मन ही मन मुस्काता है, मनोज।

कॉरीडोर और बाथरूम में अभी तक खामोशी है। रविवार जो है। क्या उठकर शेव कर ली जाए। ऐन मौके पर सब एक साथ दौड़ते फिरेंगे। बेसिन के आगे खड़े होने की जगह तक नहीं होगी। भीड़ आ जाने पर बिना शेविंग क्रीम के शेव करना भी बुरा लगता है। इस बार पैसे मिलने तो दो टूथपेस्ट, साबुन की तरह शेविंग क्रीम को भी प्राथमिकता के आधार पर खरीदा जाएगा। मनोज बिस्तर से उठा, रेजर निकाला, मग उठाया फिर एकाएक बिस्तर पर बैठ गया और धीरे-धीरे निस्तेज सा लेट गया; मग, रेजर सिरहाने पड़ा रहा। अपने आप से कहा– छोड़ो यार, कहाँ भागी जा रही है दाढ़ी। आज न सही, कल बना लूँगा।

खुद भी क्या कम है रमन से। सुबह-सुबह अपने जन्मदिन को रोमांटिसाइज तो करता फिर रहा है। फालतू में रविवार जैसी सुबह को बरबाद करने के सिवा और कर भी क्या रहा है। इससे तो अच्छा होता कुछ देर सीमा को यादों में ले आता। महानगरी, की शेड्यूल भरी जिंदगी में वक्त बेवक्त किसी को याद भी तो नहीं किया जा सकता। इसके लिए समय निकालना पड़ता है। रविवार की सुबह न तो ट्यूशन के लिए जाना है, न ही क्लास के लिए। एक बार हाथ से निकल जाए तो पूरे सात दिन दर्शन नहीं मिलेगा। 'इसे खोने मत दो बेटा।' जैसे किसी और ने उसे सलाह दी और वह चुपचाप मान भी गया।

पिछली बार हँसी मजाक में मनोज ने माँ से कहा था– "माँ, मैंने तो अपने लिए एक लड़की ढूँढ़ ली है।"

माँ ने पूछा– "किस जाति की है?"

"मुझे क्या पता। जाति का साइनबोर्ड लगाए थोड़े ही न वह रास्ते में घूमती है।"

"इसका मतलब यह तो नहीं होता है कि तुम किसी पठान लड़की से शादी करोगे।" मुस्कुराते हुए माँ ने कहा। माँ की प्रतिक्रिया से लग रहा था, उन्हें अभी तक उसकी बातों पर यकीन नहीं हुआ है।

बड़ी बहन पास में खड़ी-खड़ी सुन रही थी। अपने पढ़े-लिखे भाई को

उसने कभी किसी राजकुमार से कम नहीं आँका था। गाँव के हिसाब से काफी दिनों तक अपनी शादी न हो पाने और बाद में एक गरीब परिवार में होने का पूरा दोष अक्सर वह माँ-पिताजी की लापरवाही के चलते अपनी अर्द्धशिक्षा को ही देती है। 'मुझे पढ़ाया-लिखाया होता तो यह नौबत ही न आई होती।' मन में थोड़ा सा अंदेशा लिए अर्थात् भाई की बातों को सच मानते हुए उसने पूछा- "लड़की के माँ-बाप क्या कहते हैं?"

"उन्हें तो कोई एतराज नहीं। लड़की के भैया-भाभी ने भी मुझे पसंद कर लिया है।"

"तो फिर?"

"बस वह लड़की मना कर रही है।" थोड़ी चुप्पी के बाद फिर उसने जोड़ा, जबकि उसकी कोई जरूरत नहीं थी, "मजाक कर रहा था मैं तो। दिल्ली की लड़कियाँ मुझ जैसे गँवार से शादी क्यों करने लगीं।"

छोटा भाई, जो बातचीत के बीच में थोड़ा आशावान हो गया था कि घर में दिल्ली की लड़की बहू बनकर आएगी, ऊँची आवाज में बोल उठा- समझी माँ, बाबूसाहब क्यों कह रहे हैं यह सब! ताकि जल्दी इसकी शादी कर दी जाए। कौन पूछता होगा इसे दिल्ली में। लड़कियाँ तो गँवार कहकर बात तक नहीं करती होंगी।

माँ चावल पछोड़ रही थी! सूप की लयबद्ध छपर-छपर आवाज के बीच वह बोली- ठीक है, इसी तरह गँवार रहे मेरा बेटा। कोई जरूरत नहीं हमें दिल्ली-मुंबई की लड़कियों की। हम बूढ़े-बूढ़ियों को प्यार से जो दो जून रूखी-सूखी माँड़-भात खिला दे, सुख-दुख में हमें छी-छी, थू-थू न करे, हमारे लिए तो वही दिल्ली-मुंबई है।

बाहर से किसी ने दरवाजे पर दस्तक दी। थोड़ी सी ऊँची आवाज में मनोज ने अंग्रेजी में कहा- "आइए खुला है।"

दरवाजा धकेलकर प्रवीर घुस आया। भाषा साहित्य का शोध-छात्र और मनोज का परिचित। "कोई स्पेयर पेन है? सोचता हूँ उस कहानी को आज खत्म कर ही दूँ।"

मनोज ने कोई जवाब नहीं दिया। ना ही गुस्सा दिखाया। ड्राअर से पेन निकालकर देने के लिए उसे मजबूरन उठना अवश्य पड़ा। यह भी एक वेराइटी है। दिन-रात चारों तरफ कहना है उसे- आप लोग कान खोलकर सुन लीजिए, मैं एक लेखक हूँ। स्साला बेवकूफ।

गाँव से लौटकर मनोज ने सीमा से भी कही थी सारी बातें। माँ का सवाल, अपना जवाब, छोटे भाई की टिप्पणी कुछ भी नहीं छुपाया था उसने। जब तक बातों को बोल नहीं देता पेट खदबदाता रहता है। सुनने-सुनाने के लिए कोई दोस्त न हो तो पता नहीं क्या होता यहाँ मनोज का। दिल्ली की भीड़ में वह अकेला रह जाता। जहाँ भी देखो समुद्र की तरह उमड़ते लोग। पर दो मिनट के लिए न किसी से बतिया सकते हो न सुन सकते हो उसकी सुख-दुख की बातें। कंपिटीशन और डिग्री के लिए तैयारी करते हुए मशीन सी यह जिंदगी जो बिना ट्यूशन के एक कदम भी आगे नहीं बढ़ती- आगे और सोच नहीं पाता मनोज, सोचने पर उसे डर लगता है।

छोटी-छोटी बातों को लेकर जिस तरह वह मूड ऑफ कर देती है पता नहीं कब उससे बात ही बंद हो जाए। अपने को कितना भी खोल दो क्या फर्क पड़ता है। बतियाते हुए कभी-कभी तो आत्मदया से पीड़ित होने का भी भय होता है। फिर भी अच्छा लगता है- मैं जैसे हूँ वैसे ठीक हूँ। मैं तो यह नहीं कहता कि मैं अच्छा हूँ। मेरे व्यक्तित्व में कोई कमी नहीं है, और यदि है भी तो नजर आने में क्या बुराई है।

मेस में ग्लास-प्लेटों की खनखनाहट, शायद नाश्ता मिलने लगा है। जरूर आठ बज चुके होंगे। जाना होगा। इतवार है न आज। मीनू में छोले-भटूरे हैं। हाँ, नौ बजे तक मिलेगा। नौ बजे तक नाश्ता मिलेगा, बिस्तर न छोड़ने का एक अच्छा बहाना साबित हुआ। वह ऐसे ही लेटा रहा।

-एक बात तो तय है सीमा...।

-क्या? झेलम लॉन के सीमेंट की बेंच पर उकड़ू बनकर बैठते हुए सीमा बोली।

-दिल्ली में प्यार करना तो अपने बस की बात नहीं। उस दिन मनोज ने कहा था। 'अपने' के स्थान पर 'हमारे' कहकर वह शहर पढ़ने आए गाँवों के लड़कों की मानो एक जमात खड़ी करना चाहता था। पर 'हमारे' कहने से कहीं सीमा यह न सोच ले कि उसे भी शामिल कर लिया गया है- इस डर से 'हमारे' शब्द का प्रयोग नहीं किया।

"हाँ, दिल्ली की लड़कियाँ तो जैसे तुम्हारे लिए मरी जा रही हैं।"

"हाँ यह भी सच है", मनोज गंभीर हो गया।

मुस्कुराते हुए सीमा ने कहा- "बुरा मान गए क्या, मैं तो मजाक कर

रही थी।" ...

"हाँ तो क्या कह रहे थे?" –सीमा ने चुप्पी तोड़ी।

"तुम मजाक कर रही थी। कोई बात नहीं, पर इस मामले में मैं कभी पहल नहीं कर सकता।"

"तुम पोटेंट नहीं हो क्या," सीमा ने कहा। गंभीर से गंभीर बातों को भी हल्के फुल्के ढंग से कहने और कहलवाने की उसकी अपनी एक शैली है।

"ओ हो! यह पोटेंसी की बात नहीं है भई।"

"तो?"

"एक बार हमारे गाँव चलो पता चला जाएगा तुम्हें। हिंदी फिल्मों का गाँव नहीं है वह। इतने सालों से मैं वहाँ रहता आया हूँ पर आज साल भर में जब एकाध बार जाता हूँ तो दम घुटता है। नहाने के लिए मुझे बाथरूम की जरूरत नहीं। मगर पानी तो चाहिए कम से कम। सोते वक्त मैं प्राइवेसी नहीं खोजता, लेकिन थोड़ी जगह तो मिलनी चाहिए।"

एक मिनट की चुप्पी के बाद फिर कहा, "बरसात के दिनों में हॉस्टल की कंक्रीट छत के तले मुझे नींद नहीं आती, जानती हो क्यों?

और सीमा के जवाब का इंतजार किए बिना ही बोला– "इस डर से कि क्या हालत हो रही होगी वहाँ। पिताजी सूखी जगह की तलाश में अपनी चारपाई सरका रहे होंगे। छत से टपकते पानी से बचने की कोशिश में माँ जगह-जगह थाली कटोरी रख रही होगी। भाई बार-बार देखने जाता होगा कि बाहर की दीवार चाचाजी के घर पर गिर जाए तो कहीं उनका ज्यादा नुकसान तो नहीं होगा, जिसकी ओट लेकर चाची महाभारत शुरू कर देगी। घर के अंदर हर जगह गीला-गीला। दवाई तक के लिए थोड़ी सी सूखी जगह मिलनी नामुमकिन है– रोमांटिक होकर कोई वहाँ चली भी जाए तो दो दिनों के बाद भागने का उसे रास्ता नहीं मिलेगा। जानती हो इसका नतीजा। न तो वह लड़की खुश रहेगी, न घर के लोग।"

लड़की के स्थान पर यदि 'तुम' कह देता तो शायद सीमा को बुरा नहीं लगता। पर माहौल इतना गंभीर हो चुका था कि मनोज कहने का साहस नहीं कर पाया।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद सीमा ने कहा, तो फिर गाँव में लोग रह कैसे रहे हैं?

रहने की क्या बात कर रही हो सीमा, किसी की सहानुभूति के लिए मैं यह सब बखान नहीं रहा हूँ। गाँव में मिडिल क्लास हैं हम। मिडिल क्लास। बाकी लोगों की हालत तुम इससे तय कर सकती हो। रूखा-सूखा दो जून खाने को मिल गया तो खाता-पीता परिवार समझो। खपरैल की छत हो, भादो-दशहरा में ब्याज पर धान लेने पिताजी दर-दर न भटकते हों, घर में सबके खाने के बाद एक-दो लोगों के खाने लायक माँड़-भात हाँड़ी में बचता हो तो तुम अमीर आदमी हो गाँव में।

सीमा चुप थी। इसलिए काफी समझदार लग रही थी। कैंटीन में यह टॉपिक छेड़ा गया होता तो कई बेवकूफों ने 'ओ-ओ, च-च' किया होता और कुछ वक्तव्य के समर्थन या विरोध में किसी अंगरेजी पत्रिका के लेख का उद्धरण देते। कुछ देर के लिए अच्छी खासी बहस शुरू हो जाती। और उसके बाद मनोज किसी से कुछ न बोलने-बतियाने की कसम खाता।

बाहर किसी ने फिर दरवाजा खटखटाया। अंदर से मनोज ने कहा- "यस प्लीज।"

"साहब! अखबारवाला बिल देंगे?"

दरवाजा खोलकर मनोज ने कहा- "कल।" अब जाते-जाते मेरे लिए केवल गाली ही बक रहा होगा स्साला। टूथपेस्ट, ब्रश उठाते हुए मनोज ने अखबारवाले की मनःस्थिति भापने की कोशिश की।

रविवार की सुबह अब उसे सोमवार जैसी लग रही थी। कहीं पानी न चला जाए- इस डर से बाथरूम की ओर भाग रहा था वह।

टिफिन का डिब्बा

जब मैंने हाई स्कूल में दाखिला लिया, असीमा नाम की वह लड़की बेहद खूबसूरत थी हमारे क्लास में। लड़कों की तो बात ही छोड़ो, कुछ लड़कों का कहना था कि तीन-तीन बच्चों के बाप नायक मास्टरसाहब भी चेहरे पर ढेर सा पाउडर पोतकर कक्षा में आते थे और पढ़ाते समय बीच-बीच में उसकी ओर देख लिया करते थे। वह लड़की थानाबाबू की बेटी थी। वहाँ थानाबाबू की धाक एक थाना, हाई स्कूल और दस-पंद्रह व्यापारियों की बिल्डिंगों को आश्रय देने के गर्व से टाउन कहलानेवाले उस बड़े गाँव में सरकार जैसी या उससे जरा सी कम थी।

लेकिन वह लड़की हम कुछ लड़कों के लिए हाथ की पहुँच के अलावा और सब कुछ थी। क्योंकि तीन-चार मील दूर गाँव से आने के कारण हम कुछ लड़के टाउन के उन लड़कों के लिए थे मफसली (गँवई)। मन ही मन चाहने की दुनिया में भी सुंदर लड़कियाँ हमारे लिए आसमान के तारे थीं। दूसरी तरह से कहा जाए तो सुंदर लड़कियों को पाना टाउन के किसी भी लड़के की पहुँच के परे नहीं था। इसलिए पापा के साथ स्कूटर में घूमने जाने के लिए रोते हुए जिद्द करनेवाली नन्हीं बच्ची अंत में अपनी हार निश्चित समझकर स्कूटर में जा रहे पापा को टा-टा करके आत्मसंतोष करने सी टाउन के लड़कों को 'असीमा आज तुझे देख रही थी' कहकर मन बहलाना हमारा रोज का काम था।

व्यक्तिगत रूप से दूसरे मफसली लड़कों से मुझमें एक कमी और थी और वह था मेरा भेंगापन। घर में जिस भेंगी आँख के कारण शुभ मानकर माँ लाड़ से मुझे भेंगू कहकर पुकारा करती स्कूल में पढ़ते समय उसके कारण लोग 'काना' कहने लगे।

मफसली होने के साथ ही अपनी भेंगी आँख के कारण मैं केवल टाउन के लड़कों से ही नहीं अधिकतर दूसरे मफसली लड़कों के द्वारा सताया जाने लगा। गाय चराने जैसे विकल्प की बात यदि समय-समय

पर पिताजी न दोहराते होते तो न जाने कब की पढ़ाई छोड़कर किताबों का बस्ता बप्पा को समर्पित कर चुका होता। ऐसी स्थिति में दूसरे मफसलियों की तरह असीमा से कुछ कम सुंदर सुशांतिनी, सौदामिनी आदि लड़कियाँ आज मुझे देख रही थीं कहकर गर्व करना भी मेरी सोच के परे था। इसीलिए स्कूल पहुँचने के बाद 'हे भगवान न जाने कब छुट्टी होगी' यह चिंता मुझे लगातार सताती रहती थी।

इसी तरह आठवीं पास करके मैं नवीं कक्षा में गया। परीक्षा में मेरे खराब रिजल्ट ने मेरे दुख को और बढ़ा दिया। तब शाम को स्कूल से लौटकर खाना खाते समय माँ को परेशान करने के अलावा कोई और रुचिकर काम मानो मेरी रोजमर्रा की जिंदगी में नहीं था।

लेकिन आश्चर्य की बात थी कि नवीं कक्षा में मेरा रिजल्ट अच्छा रहा। कक्षा में मेरा स्थान पैंतीस से पाँच पर पहुँच गया था जो कि हमारे ही कक्षा में दूसरे स्थान से पहले स्थान पर पहुँचे सुरेश से भी अधिक चर्चा का विषय बन गया था। एकाध शिक्षकों ने मेरा नाम लेकर मैं कौन हूँ जानना चाहा तो कुछ अन्य शिक्षकों ने यह पूछा कि मैं ट्यूशन पढ़ता हूँ या नहीं। कुल मिलाकर गरमी की छुट्टियों के बाद स्कूल शुरू होने के कुछ दिनों तक मैं ही था कक्षा में चर्चा का मुख्य विषय।

उसके बाद टाउन के लड़के कक्षा में मुझे अपने पास बिठाने लगे या पहले से आकर मेरे लिए जगह रखने लगे। दूसरे अभद्र मफसली लड़के अब 'काना' न कहकर मुझे नाम से बुलाने लगे और मुझे पैदल स्कूल आते देख साइकिल पर भी बिठाने लगे। इसके अलावा सबसे खास घटना यह थी कि जब मास्टरसाहब पिछली परीक्षा के मार्क्स सुना रहे थे तब असीमा नाम की उस लड़की ने मेरे मार्क्स अपनी रफ कॉफी में लिखे थे, यह बात ठीक उसके पीछे बैठे घन्नू और मन्नू नाम के दो लड़कों ने बताई। हालाँकि मैं कह भले ही नहीं रहा था, पर कुछ-कुछ वैसा आभास मुझे भी हुआ था उस वक्त। इन्हीं सब कारणों से मैं इतना खुश था कि उस दिन स्कूल से लौटकर खाना खाते माँ को जरा भी परेशान न करके जो कुछ परोसा गया था उसे चुपचाप खा लिया और इसके परिणामस्वरूप माँ ने 'क्या हुआ मास्टरसाहब ने मारा है क्या? लड़कों ने ज्यादा चिढ़ाया है क्या?' तीन-चार बार पूछा। बार-बार नहीं-नहीं कहकर मना करने के बावजूद माँ ने चिंतित होकर दुखभरा उपदेश देते हुए अगले दिन स्कूल जाने से मना किया।

अब मैं कक्षा में टाउन के लड़कों के साथ बैठता था और सिर से तेल

चूते और रात को सिर के नीचे तकिया की तरह रखी गुड़ीमुड़ी कमीजें पहनकर आनेवाले मफसली लड़कों को पीठ पीछे से गरियाने लगा था।

मैं टाउन के लड़कों की तरह पीछे से मास्टरों को तू-ता करता और बात-बात में क्या यार... पता नहीं... आदि हिंदी शब्दों का अधिकतर प्रयोग करता। इसके अलावा अपनी जिस भेंगी आँख के लिए दुख किया करता था उसके सर्जक भगवान को भी कभी-कभार गाली-गलौज करके उनकी खबर लिया करता था, आजकल मुझे अपनी वे भेंगी आँखें शायद ही याद आती थीं।

खुद मफसली होते हुए दूसरे मफसलियों के प्रति इस तरह का तिरस्कृत व्यवहार करने के बावजूद अगली परीक्षाओं में 'मैं' नामक पात्र की उत्तरोत्तर और उन्नति हुई, अवनति नहीं। भेंगी आँख की बात और भी कम याद आई, अधिक नहीं। क्या यार, पता नहीं, के अलावा और भी नए-नए हिंदी शब्दों का प्रयोग करने लगा। सच कहा जाए तो इस घटना ने बिलकुल अलग दिशा में मोड़ लिगा, असीमा के साथ।

परीक्षा में अच्छे नंबर पाने के बाद असीमा कैसे चलती-कैसे मुड़ती, कैसे हँसती, कैसे बैठती, इत्यादि के बारे में दोस्तों के बीच कहते हुए अब आजकल मुझे हिचक नहीं होती। उसे चाहनेवाले कुछ लड़कों में मेरा भी नाम जुड़ गया था। इस बीच कुछ लड़के मुझे खुश करने के इरादे से 'आज तुझे असीमा देख रही थी' कहकर मुझसे गणित आदि की कॉपी लेकर देख लिया करते थे और मास्टर साहब की मार से बच जाते। मुझ जैसे कई प्रतिद्वंद्वी प्रेमियों का घर टाउन में होने के कारण असीमा के साथ उनका जासूसी किताबों का लेन्-देन, बाजार की भीड़ में उससे टकराना तथा तालाब में नहाते वक्त उसके गुप्तांगों को देखना इत्यादि बातें जब वे लोग अति गर्व से बखानते थे, तो मैं सोचता था भगवान हमारा घर भी टाउन में क्यों नहीं हुआ- इस तरह मन ही मन दुखी होकर गुहार करने की बात मुझे आज भी स्पष्ट रूप से याद है।

हालाँकि कुछ दिनों के बाद हर बुध को हमारे गाँव के जन्म-मृत्यु का हिसाब लेकर थाना जाने और वहाँ थानाबाबू के घर पर लकड़ी काटने, चारपाई बुनने जैसे तमाम गैरसरकारी काम करके खुश रहनेवाले हमारे गाँव के चौकीदार से पूछने पर पता चला कि थानाबाबू के घर के लोग तालाब में नहाने न जाकर घर पर ही नहाया करते हैं और इसके लिए चौकीदार लोग ही पानी ढोने का काम करते हैं। खरीदारी करने के लिए भी थानाबाबू के घर के लोग आम लोगों की तरह खुद बाजार नहीं

जाते। इसके लिए बाजारू कांस्टेबलों की नियुक्ति अर्दली की तरह जाती है। जासूसी किताबों के लेन-देन के बारे में हालाँकि वह चौकीदार कोई विशेष तथ्य उजागर नहीं कर सका, फिर भी दो-दो बातें गलत साबित होने के कारण असीमा के बारे में यह बात भी बिलकुल सच नहीं हो सकती सोचकर मैं भी काफी हद तक आत्मतृप्ति अनुभव करने लगा।

तब असीमा को आकर्षित करने के लिए नए-नए चुटकुले घर में सोच-सोचकर कक्षा में आकर ऊँची आवाज में दोस्तों को सुनाया करता था और सुनाते समय वह मुस्कुराई या नहीं यह देखने के लिए तिरछी नजर से समय-समय पर उसकी ओर देख भी लिया करता था। उसके करीब होने के जिन अन्य तरीकों के बारे में मैं सोचा करता था उनमें मंत्र-शिक्षा भी एक था। मन ही मन सोचता कि काश मैं ऐसा मंत्र जानता जिसके बल पर असीमा के सिर से सारे जूँ और नाक से तमाम बलगम बहाने लगता। हालाँकि यह दूसरे लोगों को दिखाई नहीं देता। इससे वह इतनी लज्जित हो जाती कि यह बात और किसी से न कहने का मुझसे अनुरोध करती और बदले में मैं जो भी कुछ कहता मान जाती।

स्कूल में हम मफसली लड़के 'रिसेस' को खाने की छुट्टी कहकर घर से अंगौछे की छोर में बाँधकर लाई हुई मूढ़ी खाने के बाद गुड़ाखू (दाँत माँजने का नशीला पदार्थ) जैसी चीज से दाँत घिसते तो टाउन के लड़के उसे रिक्रिएशन कहकर अपने-अपने घर खाना खाने चले जाते थे। परंतु लड़कियों की बात बिलकुल अलग थी। वे लोग टाउन में रहते हुए भी रिसेस में घर न जाकर टिफिनकैरियर में टिफिन लाकर खाया करती थीं स्कूल के बरामदे में बैठकर।

काफी दिनों तक मुझे यह धारणा तक नहीं थी कि टिफिन किसी निर्दिष्ट चीज का नाम नहीं है। बल्कि टिफिनकैरियर नामक पात्र में जो भी वस्तु लाई जाती है वही टिफिन कहलाती है। जैसे कि अंगौछे की छोर में रसगुल्ले भी बाँधकर लाओ तो भी वह मूढ़ी कहलाता है। काफी दिनों तक उसी टिफिन नामक वस्तु को कुछ नहीं तो केवल जी भर देखने के लिए टकटकी बाँधे रहने के समय सहसा एक दिन पता चला कि वह कुछ भी हो सकता है।

लड़कियाँ कक्षा में पहुँचते ही अपना-अपना टिफिनकैरिअर टेबुल के नीचे दर्शनीय रूप से रखतीं तब हम मफसली लड़के अपने-अपने मूढ़ी के अंगौछे को किताबों के बस्ते में खूब छिपाकर रखते और जिस दिन

जल्दी छुट्टी होने की उम्मीद होती उस दिन घर से मूढ़ी लाने की कोशिश तक नहीं करते। खाने की छुट्टी होने के काफी देर बाद जब सभी लड़के कक्षा से बाहर चले जाते तब छिपाकर रखा गया मूढ़ी का अंगौछा बाहर निकालना हमारी पुरानी आदत थी। टाउन के लड़कों के साथ दोस्ती करके मफसली लड़कों को गाली देने के बावजूद मेरी मूढ़ी-अंगौछे की आदत खत्म नहीं हुई थी।

दूसरी लड़कियों से असीमा की ही तरह उसका टिफिन का डिब्बा भी अत्यधिक मनोरम था। टिफिन नामक कोई निर्दिष्ट वस्तु इस संसार में न होने की बात आविष्कार करने के बाद मैं सोचता था उसमें कुछ नहीं तो पेड़ा, रसगुल्ला या फिर कम से कम पूड़ी-कचौड़ी आदि जरूर होती होगी। इसलिए कक्षा में और कुछ देखने को न होने पर मैं उसके टिफिनकैरिअर की ओर बीच-बीच में आतुर हो देख लिया करता था।

इस तरह एक दिन जब नायक मास्टर क्लास ले रहे थे पैर लगने से असीमा का सुंदर टिफिन का डिब्बा खुल गया। कक्षा के उस शांत माहौल में पैर लगने-सी आवाज ने मेरी ही तरह और भी अनेक लड़कों का ध्यान टिफिनकैरिअर की ओर सहज ही आकर्षित कर लिया था। किंतु हाय! मेरी समस्त कल्पनाओं को मिट्टी में मिलाते हुए असीमा के टिफिन के डिब्बे से पेड़ा, रसगुल्ला या पूड़ी-कचौड़ी नहीं बल्कि अंजुलि भर मूढ़ी निकलकर बिखर गई, जिसे कि सबके सामने समेटने जैसा लज्जाजनक काम भी वह नहीं कर पा रही थी। इसीलिए उसके टिफिन की मूढ़ी को पीरियड खत्म होने तक देखते रहना ही उस दिन का मेरा मुख्य काम बन गया था। उस टिफिन की मूढ़ी और हम मफसली लड़कों के अंगौछे की मूढ़ी में सिर्फ एक फर्क था, उसमें हल्दी और तला हुआ प्याज मिले होने के कारण वह पीली दिखती थी, जबकि हमारी मूढ़ी में प्याज के बड़े-बड़े टुकड़े पड़े होने की वजह से वह बिलकुल सफेद दिखाई पड़ती थी। इसके अलावा और कोई भी फर्क उस चमचमाते मनोरम टिफिनकैरियर के टिफिन और हम मफसलियों के अंगौछे की छोर में बँधी मूढ़ी में लाख कोशिश करने पर भी दिखाई नहीं पड़ा।

इस घटना के बाद हालाँकि असीमा को चाहना मैंने पूरी तरह छोड़ नहीं दिया था, पर अब पहले की तरह घर से चुटकुले बनाकर उसे सुनाने का बहाना नहीं ढूँढ़ता था और यदि सुनाता भी था तो उसे सुनकर मुस्कुराई या नहीं जानने के लिए तिरछी नजर से उसकी ओर नहीं देखता था।

उग्रवादी

टुक्-टुक्-टुक्। मेरी ऊँघ उचट गई। सिरहाने से लगातार आवाज आ रही थी टुक्-टुक्-टुक्। घड़ी की टिक्-टिक्-टिक् सी आवाज से कुछ तेज, बढ़ई की ठक-ठक से कुछ कम। सोचा, लकड़ी काटनेवाला कोई कीड़ा होगा। सरकारी क्वाटर की सस्ती लकड़ी से बनी चारपाई को कुतर डालने में उसे अधिक मेहनत् भी नहीं करनी पड़ रही होगी।

बत्ती जलाई। एकदम चुप। बत्ती बुझाई, फिर टुक्-टुक्-टुक्। करवट बदली, कोई फर्क नहीं पड़ा। पैताने सिर किया। थोड़ी सी चुप्पी, फिर टुक्-टुक्-टुक्। अबकी बार बत्ती जलाई और साथ ही बिस्तर फटका। सिरहाना भी। सर्र से एक छोटा सा चूहा भागा निकलकर। ऐसी आपातकालीन स्थिति का सामना करने के लिए मानो उसने पहले से तैयारी कर रखी थी। कुछ देर सही, पता तो चला कि लगातार टुक्-टुक् करके नींद हराम करनेवाला जीव महज एक चूहा ही है।

चारपाई के नीचे झाँका, तकिए की रूई के ढेर से टुकड़े मकड़ी के जाल में झूला झूल रहे थे। कुछ चारपाई के नीचे भी पड़े थे। तकिए में, हाथ चला जाए, जितनी एक सुरंग। इसके बाद शायद बिस्तर की बारी है। सब चूहे का खेल है। तकिए के लिए मन में कोई अफसोस नहीं था। सरकारी क्वाटर के साथ मिला था वह। साथ में मच्छरदानी और बिस्तर भी। मेरी नींद हराम करने के साथ-साथ तकिए को भी यदि काट डालने का उसका विचार है जिससे कि मेरा आर्थिक नुकसान हो, तो उसकी सोच पर पानी फिर गया समझो। मकान के साथ तकिया देनेवाली सरकार को न चाहते हुए भी मैंने धन्यवाद दिया।

लगता है चूहे का आगमन आज नया नहीं, वरना एक ही रात के श्रम से कोई इतनी सारी रूई तकिए से निकाल नहीं सकता। इसका यही मतलब हुआ कि पिछले कई दिनों से लगातार टुक्-टुक्-टुक् कर रहा है वह।

ट्रेन-- लंबा सफर-- सामान ढोना-- न जाने और क्या-क्या मुसीबतें-- इन सारी मुसीबतों की जड़ है बिस्तर पर जाते ही गहरी नींद में डूब जाना। किसी चीज की कोई खोज-खबर नहीं। शादी की बची-खुची संभावना को चूर-चूर करनेवाली चिट्ठी कल न आई होती तो शायद आज भी मैं कुंभकरण सी गहरी नींद में सो रहा होता। कुछ दिनों तक यही सिलसिला जारी रहता तो शायद एक दिन तकिए के बदले मुझे चूहे पर सिर रखकर सोना पड़ता। उस लड़की के तिरस्कार भरे पत्र के कारण ही सही, रात को ठीक से सो नहीं पाया। सो नहीं पाया इसलिए चूहे की खोज भी कर ली। चलो, बुरी खबर का कुछ तो अच्छा असर हुआ।

कमरे में चारों ओर मैंने नजर दौड़ाई। तकिए के सिवाय किसी दूसरी ओर तो ध्यान नहीं गया उसका? नहीं। अभी तक दीवार में सेंध नहीं लगी है। रसोई की नाली उसकी आवाजाही का रास्ता बनी हुई है। रसोई में हम दोनों के-- मेरे और चूहे के-- खाने के लिए सिर्फ बिस्कुट और डबल रोटी। बिस्कुट का डिब्बा खोला, डबलरोटी एक पॉलीथीन थैली में थी और पॉलीथीन थैली दीवार के एक काँटे से झूल रही थी। दोनों अपनी-अपनी जगह ठीक-ठाक थे। उस ओर चूहे का ध्यान अभी तक नहीं गया था। शायद गया भी हो। कमबख्त बहुत सोच-समझकर डग बढ़ा रहा हो। रसद सामग्री बाद में, पहले तकिया ताकि उसकी आवाजाही की खबर मुझे महीनों न रहे। पता ही न चले कि दुश्मन ने मेरे तकिए में अपनी जगह बना ली है।

तकिए को रूईविहीन करने में क्या कुछ फायदा है उसे? नींद खुलने के बाद मैंने अपने से ही एक दार्शनिक सा सवाल किया। क्या किसी की तकिए की रूई से कभी वह अपना पेट भी भर सकता है? दूसरों की नींद हराम करके क्या खुद कभी चैन से सो सकता है? दूसरों के नुकसान से क्या कभी उसकी भरपाई भी हो सकती है? कतई नहीं। रात्भर की टुक्-टुक् से बस दाँतों की थोड़ी सी कसरत। इसके सिवाय और क्या मिलेगा उसे? इसके लिए क्या कम जोखिम उठाना पड़ रहा है उसे! मान लो कभी उसकी चालाकी पकड़ी गई तो क्या मृत्युदंड से कुछ कम दंड मिलेगा!

फिर कुछ ही देर में मैंने उसकी प्रशंसा करनी शुरू कर दी। कसरत, आत्मसंतोष, दुश्मन का नुकसान जैसी अमूर्त अवास्तविक चीजों के लिए बेचारा चूहा भी क्या कम लगा हुआ है! उसकी प्रतिबद्धता, कामनारहित श्रम और आलस्यहीन जीवन से क्या हमें कुछ सीखना नहीं है? इस नतीजे पर

पहुँचते ही मैंने बत्ती बुझा दी और नए सिरे से सोने का प्रयास किया।

अब शादी का प्रस्ताव ठुकरानेवाली प्रेमिका की जगह-- जो अब उस चिट्ठी के बाद मेरे लिए बांधवी से महज एक लड़की मात्र बन चुकी थी-- रुक-रुककर वह चूहा ही मेरी सोच का प्रमुख केंद्र बन चुका था। सटके हुए परवल सा होगा उसका शरीर। बैंगन सा होने का मौका ही कहां मिला उसे। हाँ, डबल रोटी और बिस्कुट की खुराक हासिल हो तो बैंगन क्या लौकी जैसा होने में भी उसे देर नहीं लगेगी। जिस तरह उसका काम निर्विरोध चल रहा है, कहीं उत्साहित होकर अपने परिजनों को भी न बुला ले। नहीं। इतना मूर्ख नहीं है कोई, जो बिना भोजन के सिर्फ रूई काटने के लिए उसका साथ दे। रातभर टुक्-टुक्-टुक्। कोई ऋषि-मुनि भी भगवान की खोज में इस तरह माला नहीं जपता होगा। खैर, वैसे ऋषि-मुनियों से उसकी क्या तुलना ! दूसरों को कष्ट देना ही जिसका एकमात्र काम हो, उसकी ऋषि-मुनियों से क्या बराबरी ! रसोई में दुबारा गया। तबला बजाने सा ठुक-ठुककर बिस्कुट के डिब्बे को अच्छी तरह बंद किया। क्या पता कल खाने को मिल जाए तो हरामखोर कहीं अपने भाई-बंधुओं को भी न बुला ले। उसे कौन सी परिवार नियोजनवाली लाल बत्ती की फिक्र है। परिवार कल्याण तो उसकी बढ़त में है।

थोड़ी देर के अंतराल में मुझे फिर नींद सी आने लगी। लेकिन चूहा भी शुरू हो गया था, टुक्-टुक्-टुक्। आदमी को आराम से रहने न देना जैसे उसकी जिंदगी का एकमात्र उद्देश्य है। अब दया के स्थान पर मुझे गुस्सा आ रहा था। भाड़ में जाए उसकी प्रतिबद्धता और कामनाहीनता। मुझे क्या करना है उनसे ! कल दफ्तर में जब उनींदा होकर लंबी-लंबी जम्हाई लेनी पड़ेगी, सहकर्मी मेरी कार्य-दक्षता पर उँगली उठाएँगे, लोग मुझे मूर्ख समझेंगे-- क्या कोई चूहा मुँह खोलेगा तब मेरे लिए? वकालत करेगा मेरी? बिना लिखा-पढ़ी का जब मुझे 'शो-कॉज नोटिस' मिलेगा, क्या चूहे का नाम तक दर्ज कर पाऊँगा उसमें? राम-राम, लोगों को केवल पता चल जाए कि एक चूहे के कारण मैं परेशान हूँ। तब तो नाक के साथ न जाने और क्या-क्या मेरी कट जाएगी शहर में। हे भगवान, क्या मुसीबत है!

फिर मैंने सोचा, वैसी आदत भी अच्छी नहीं है। आदमी को सोना तो चाहिए ही। आखिर जब सोना ही है तो क्या फर्क पड़ता है आदमी चूहे के साथ सोए या बिना सिरहाने के। हर स्थिति में सोने की आदत होनी चाहिए। यह क्या? एक चूहे ने टुक्-टुक् किया और नींद गायब।

फिर एक बार बत्ती जलाई। बिस्तर को ऊपर उठा दिया। पहले की तरह चूहे महाशय भाग निकले। पकड़ने का कोई मौका नहीं दिया उन्होंने। बेधड़क उत्पात मचाने के लिए मानो वह गुरिल्ला बना हुआ है। स्नेह-प्रेम या फिर नफरत और वितृष्णा जैसा उसका अस्तित्व तो मैं महसूस कर पाता हूँ, मगर हाथों में पकड़ नहीं सकता। बहुत ही अजीब स्थिति है मेरे लिए।

कहीं ऐसा तो नहीं है कि बिना काम का मानकर हरामखोर केवल मुझ ो ही परेशान कर रहा है? क्यों नहीं-- मुख्यालय में इतने सारे नालायक अधिकारी होते हुए भी आखिर मुझे ही तो भेजा गया इस बदसूरत जगह में। शहर में इतने सारे लड़के हैं परंतु शादी का प्रस्ताव तो मेरा ही ठुकराया गया ! चूहा भला दूसरों से अलग राय क्यों रखे किसी के बारे में? खैर छोड़ो ! सब किस्मत का खेल है।

बिस्तर पर लेटे-लेटे मैंने एक बार सोचा, क्यों न छानबीन कर ली जाए इस बारे में। कुछ नहीं तो मकान में पहले रहनेवाले उन अधिकारी से ही। चूहे का उत्पात कहीं उनके समय से तो नहीं चलता आ रहा है। "आपके समय मे कहीं एक चूहा तो नहीं आता था घर में?... नहीं-नहीं ऐसी कोई बात नहीं है, मैंने ऐसे ही पूछ लिया था," उन्हें कहीं पता न लग जाए कि मैं काफी परेशान हूँ। नहीं तो लोग मजाक उड़ाएँगे। फिर याद आया, अरे! उन्हें तो प्रोमोशन मिला है जिसके कारण वे इस क्वाटर से बड़े मकान में गए। उनकी बीवी तो वैसे भी बोर होती होगी। मुझसे बातचीत करके शायद खुश भी होगी। परंतु सीनियरों से इस तरह की घरेलू बातें करना क्या उचित होगा? कहीं यह न सोच ले कि मैं नजदीक आने के फेर में हूँ। नहीं, ऊपरवाले की मदद से अपनी समस्या का हल ढूँढ़ना इतनी सरल बात नहीं।

वैसे देखा जाए तो चूहे के उत्पात से कौन बचा है इस दुनिया में? गणेश बाबा की तरह अपने वश में रखने के लिए किसी ने उसे अपना वाहन बनाया है तो और किसी ने निधी बुढ़ऊ की तरह चूहे से बचने के लिए बिल्ली पाल रखी है। जब तक इस दुनिया में आदमी है, ऐश-ओ-आराम के लिए उसके सिर के नीचे मुलायम सा तकिया और गद्दीदार सोफा सेट और बिस्तर है, तब तक चूहा रहेगा। उत्पात मचाता फिरेगा। हाँ क्यों नहीं, सारे सुख का खजाना यदि आदमी के हाथ में हो तो चूहे की परेशानी स्वाभाविक है। थोड़ी सी परेशानी बाँटकर जब चूहा अपने हिस्से का सुख माँगता है, आदमी को नाराज नहीं होना चाहिए। भलाई तो है थोड़ा सुख बाँटने में ही। आखिर बड़ों ने भी

दुनिया को सुख-दुख की खिचड़ी ही तो माना है। वैसे भी केवल सुख की तलाश, चाहे उसके लिए दूसरे कितने भी परेशान हों, अच्छी बात नहीं। आदमी को नए सिरे से इस पर विचार करना होगा। सिर्फ चूहे को मारने से इसका हल निकलनेवाला नहीं।

परंतु मेरी अंतरात्मा की पुकार अधिक देर टिक नहीं सकी। रात जितनी गहरी होती गई हम दोनों में दुश्मनी भी वैसे ही बढ़ती गई। उसे मारने के प्रयास में मैंने एक पेपरवेट को पापड़ की तरह चूर-चूर कर डाला, एक जोड़ी चप्पल भी अधमरी स्थिति में पहुँच गई। एक दो बार आँखों से चश्मा जरूर गिरा था, मगर वह बलाल सेन की तरह अक्षय था मानो पूरी घटना का जायजा लेना उसके लिए जरूरी था। गुस्से में कभी मैंने चूहे की तरह दाँत मरोड़े तो कभी टुक्-टुक् किया, उसे काटने को दौड़ा। बड़बड़ाया। इस बेकार शहर में मेरा तबादला करनेवाले उन अफसरों को माँ-बहन की गाली दी। पर स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ।

"अरे जो करना है करे, सुबह तो आखिर मरना ही है उसे।" इस निश्चय में पहुँचने के बाद मैंने जबर्दस्ती सोने की कोशिश की। जैसे डॉक्टर न आने तक बीमारी को टिके रहने की अनुमति मिल जाती है, चूहे का उत्पात अब उसी तरह फल-फूल रहा था। कभी टुक्-टुक् की आवाज असह्य हो उठती तो बत्ती जलाता, फिर कुछ देर बाद नींद लाने की कोशिश में बत्ती बुझा देता। इस प्रक्रिया में मैंने कई बार कसम खाई, कल सबसे पहले चूहा उन्मूलन, बाकी सब बाद में।

सबेरे चूहे मारने की दवा की तलाश में मैं घर से निकला। यहाँ कुछ ही दिन तो हुए थे मुझे आए। ज्यादा क्या जान-पहचान होगी बाजार में? एक अंडेवाले से थोड़ा-बहुत परिचय था। वह भी मुझ जैसा बाहरी आदमी था। बोलता कम था। यही कारण था कि मैं उससे नियमित अंडे खरीदता था। 'बाद में पैसे देंगे या लेंगे' तक दोस्ती बढ़ चुकी थी। जब मैंने उससे चूहामार दवा माँगी तो उसने कुछ मुस्कुराते हुए जवाब दिया, "मेरे पास नहीं है।" अजीब आदमी है। क्या मुझे पता नहीं तुम अंडे बेचते हो, चूहामार नहीं। यह बताओ, कहाँ मिलेगी। यह सब कहने के लिए मैंने केवल मन ही मन सोचा। कह नहीं पाया। आदमी गंभीर था, जिससे उसके पढ़े-लिखे होने का थोड़ा सा डर था। उससे उलटा-सीधा कहना उचित नहीं होगा। अपनी नाराजगी दाँतों तले दबाते हुए मैंने पूछा, "कहाँ मिलेगी?" इसके जवाब में भी वह थोड़ा सा मुस्कुरा

दिया और बोला, "बता नहीं सकता।" अब तो मुझे उससे चिढ़ हो गई थी। कैसा दुकानदार है यह? एक नियमित ग्राहक से दो शब्द बोलने की आदत नहीं है, तो कैसे करेगा दुकानदारी। तुम जैसे दुकानदार से रिश्ता बनाना ही मूर्खता है। तुम से तो कई गुने अच्छे हैं वे व्यापारी जो बिना पूछे कई बातें बता देते हैं। सलाह देते हैं बार-बार शायद ही जिसमें कभी कोई काम की बात हो।

छोटा सा कस्बा। पूरे बाजार में चालीस-पचास से ज्यादा दुकानें नहीं होंगी। उनमें से जूते, कपड़े, डबल रोटीवाली कुछ दुकानों को छोड़ लगभग आधी से अधिक दुकानों में मैंने पूछा। किसी ने कहा, बता नहीं सकता, तो किसी ने रास्ता दिखा दिया-- कहीं और पूछिए। कई तो अंडेवाले की तरह केवल मुस्कुराए, मानो चूहे मार दवा माँगकर मैंने कोई अपराध कर दिया है। जब सवाल सुनने में ही किसी को दिलचस्पी नहीं, तो जवाब की क्या उम्मीद की जा सकती है। अंत में उदास होकर मैं अपने दफ्तर की ओर चल दिया।

दफ्तर में काम में मन भी कैसे लगे? पूरी रात एक टुक भी सो नहीं पाया था। उनींदी आंखों में जलन थी। दो-चार बार मुँह धोने गया। आईने के सामने परखने लगा-- आँखें काफी लाल दीख रही थीं। मन आत्मदया से भर उठा। रातभर सो नहीं पाने की खबर अगर दफ्तर में पहुँच जाए तो लोगों का ताँता लग जाएगा-- "क्या हुआ? कोई परेशानी हो तो हमें बताओ।" कहेंगे केवल; सोचेंगे यह चिट्ठी का असर है। मुझे अपने खुलेपन का दुस्साहस दिखाते हुए उस लड़की के बारे में इतना कुछ बताना नहीं चाहिए था। अगर बताया भी तो चिट्ठीवाली बात तो छिपा ही सकता था। भविष्य में हर बात नाप-तौलकर बोलनी होगी। "अब तुम विद्यार्थी नहीं रहे, नौकरी करने लगे हो। सँभलकर राह चलो," मैंने अपने आपसे कहा।

कुर्सी पर बैठे-बैठे अब जम्हाई आने लगी। सपनों में केवल चूहे ही चूहे। कभी पेपरवेट के आघात से खून से लथपथ चूहा तो कभी टुक्-टुक् की जगह दानव सा अट्टहास करता चूहा। घर-बाहर हर कहीं चूहा ही चूहा।

दफ्तर में भला किससे कहता चूहे की बात? प्रेमिका की कहानी सुनने हर कोई तैयार मिलेगा, परंतु चूहे के लिए वक्त? किसे फुर्सत है। हाँ, मजाक उड़ाने पहुँच जा सकता है हर कोई। शायद छोटे कर्मचारी सुन लें मेरी बात। मगर अपने पद का भी तो कुछ ख्याल रखना होगा। क्या उनसे इस तरह की बात करना उचित होगा?

किसी चपरासी के घर यह घटना घटी होती तो कितने मजे से वह दूसरों

को बता चुका होता अभी तक। हो सकता है उसके कई मुसहर साथी चूहा मारने मैदान में उतर भी चुके होते। और मैं? बेमतलब का यह पद! किसी को बुला भी नहीं सकता-- मुझे बचाओ! मुझे बचाओ! चूहे के उत्पात से मुझे बचाओ!

दफ्तर के तमाम सहकर्मियों के बीच अब मुझे मेरा चपरासी ही अपना लगने लगा। सिर्फ वही समझ सकता है मेरा दुख। उसे पास बुलाया, मगर कह नहीं पाया। किसी और को बता दे तो! क्या भरोसा! छोटा आदमी संस्कारहीन। हो सकता है मुझे परेशान करने के मकसद से नहीं, मेरे साथ अपनी आत्मीयता का प्रमाण देने के लिए ही। मिनटों में आग की तरह फैल जाएगी बात। तब तो दफ्तर आना भी मुश्किल हो जाएगा। लोग बुलाएँगे-- चूहा अधिकारी। यूनियन की पर्ची पर अच्छा भी लगेगा यह नाम। कभी कुछ बात हुई तो हेडऑफिसवाले कहेंगे कि जो एक चूहे को काबू में नहीं ला सकता, भला इतना बड़ा दफ्तर कैसे सँभालेगा। बल्कि इससे तो कई गुना अच्छा है चूहे का उत्पात सह लेना। अंत में चाय का ऑर्डर देकर मैंने चपरासी को विदा किया।

उस दिन चूहामार दवा मिलने की कोई गुंजाइश नहीं थी। चारों ओर से निराश होकर जब मैं शाम को थका-हारा घर लौटा तो बिस्तर पर लेटने का मन ही नहीं हुआ। चूहे के प्रति नफरत थी और साथ ही कुछ भय भी। इसलिए बिस्तर से दूर ही रहा मैं। पर कब तक? रात को बिस्तर में तो जाना ही होगा।

आज की स्थिति तो पहले से भी बदतर है। चूहा किसी भी तरह के भय से निश्चिंत था। बिस्तर उठाकर झाड़ दो तो अनमना सा धीरे-धीरे चला जाता था। मानो अपना अधिकार जता रहा हो। पेपरवेट टूटने के बाद कोई और अस्त्र साथ लाया हूँ या नाहक ही उसे तंग कर रहा हूँ-- यह जानने की इच्छा से कई बार आँखें फाड़-फाड़कर देखा भी उसने। शायद प्रतिरक्षा का कोई उपाय भी ढूँढ़ लिया हो।

अंत में मैंने निश्चय किया कि कल दफ्तर में बोलना ही पड़ेगा, और कोई चारा नहीं। वरना बाद में सरकारी तकिया, बिस्तर बर्बाद करने के जुर्म में आर्थिक दंड भी हो सकता है। मानसिक तनाव तो फिर कभी न कभी किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ेगा ही। तब लोग कुछ भी सोच सकते हैं।

हालाँकि दूसरे दिन ढिंढोरा पीटकर दफ्तर में बताने का साहस जुटा न पाया, तब भी एक हमउम्र अधिकारी क़ो सारी बातें बता दीं। सब कुछ

सुनने के बाद वे अपने बिना साइलेन्सर के स्कूटर की तरह, जिसके लिए वे अपने कस्बे में जाने जाते थे, अपनी आवाज को जरूरत से ज्यादा ऊँची करते हुए बोले, "आप चूहे को मार क्यों रहे हैं?" मुझे आश्चर्य हुआ। इसका मतलब यह आदमी अभी तक मेरी बात सुन नहीं रहा था। जी तो कर रहा था फिल्मी अंदाज में कह दूँ, "क्या बकता है?" पर कुछ बोल न सका। न जवाब ही दिया उनके प्रश्न का। अपना उत्साह बरकरार रखते हुए उन्होंने आगे कहा, "चूहा एक रिवेंजफुल जीव है। मार डालने से उसके उत्पात से आप बच नहीं सकते। न ही आप उसे मार सकते हैं। उसको बिस्कुट, डबल-रोटी देने में ही आपकी भलाई है। कुछ ही दिनों में वह आपके बस में होगा, आपकी बात मानेगा।" उनकी पूरी बातों से पता चला– कई साल से इस प्रकार उन्होंने कुछ चूहों को अपने बस में कर रखा है। कहने लगे, खाने को मिल जाए तो मोटे दिमागवाले चूहे बिस्तर, तकिया जैसी डेलीकेट वस्तुओं पर नजर नहीं डालते। आजकल तो वे इतने बस में हैं कि आदेश मिलते ही पड़ोसियों को भी तंग कर आते हैं।

अब मेरे मन में कई सवाल उठे। उनकी आवाज की तरह कहीं उनका दिमाग भी तो बिना साइलेंसर का नहीं है। मान लो वे सही कह रहे हैं, पर उन्होंने तो नहीं भेजा था उस चूहे को? या फिर हो सकता है कि वे चूहे की तरह जरूरत से ज्यादा चालाक हों। अपने घर के चूहों से मुक्ति पाने के बाद न चाहते हों औरों के चूहे मरें। लोग परेशानियों से बचें।

मैंने और एक को बताया। वे महाशय चूहे मारने के पक्ष में हैं, मगर उनका कहना है कि चूहे मारना असंभव है। "आप रातभर बत्ती जलाएँ, चूहा समझेगा आप जगे हुए हैं। बिस्तर तक आने से झिझकेगा", उन्होंने सलाह दी।

रोशनी में सोने की मेरी आदत नहीं थी। यों कोई आपत्ति भी नहीं है। शुरू-शुरू में एक-दो दिन सो नहीं पाया। चूहा भी नहीं आया। हाँ आदत हो जाएगी। अपने आप नींद आने लगेगी। बस आदत की बात है। लोग प्लेटफॉर्म पर भी तो सालों साल सोकर गुजारा कर लेते हैं– मैंने अपने आप से कहा। सचमुच कुछ दिनों में रोशनी में सोने की मुझे आदत सी हो गई। किंतु दुर्भाग्य से तब तक चूहे को भी इसका भेद पता चल गया था। बत्ती जल रही है, मैं सोया हूँ और वह टुक्-टुक् कर रहा है। बिलकुल पहले जैसी स्थिति।

उधर दफ्तर में चूहेवाली बात पता चलने से एक नई समस्या खड़ी

हो गई। इसका मुझे पहले से अंदेशा था। दफ्तर पहुँचते ही लोग कतारों में आए और पूछने लगे, "कल कैसी रही रात आपकी? क्या-क्या किया चूहे ने?" जिज्ञासुओं में अपने आदमी की संख्या नहीं के बराबर। छोटे कर्मचारी पूछते थे मुझसे नजदीकी रिश्ता कायम करने के लिहाज से। बड़े अधिकारी-- मेरा मजाक उड़ाने। अंततः मेरे चपरासी ने भी मेरे दुश्मनों से हाथ मिला लिया था। मेरे सामने नजदीक होने की कोशिश करता, परंतु पीठ पीछे मेरी दुर्गति का नाटकीय प्रदर्शन करता, मेरा मजाक उड़ाता। हरामखोर कहीं का!

उजाले में सोने की तरह लोगों को जवाब देने का भी मैं अभ्यस्त हो चला। गुस्सा करो तो और बदनामी होगी। समझाओ तो किसे फुर्सत है सुनने की। इन दोनों के बीच में रहकर जवाब देना पड़ता था। एक बार तो सोचा कि बार-बार जवाब देने से बेहतर है कमरे के आगे एक बोर्ड लटका दो। शीर्षक होगा : चूहा-उत्पात की अभी तक की खबरें।... दिन भर बकबक करने से तो यह अच्छा विकल्प है।

कुछ ही दिनों में दफ्तर, घर, बाजार– कोई भी जगह मेरे रहने लायक नहीं रही। कहीं चूहा तो कहीं चूहे-संबंधी सवाल। दोनों ने मिलकर मुझे अच्छा सताया। उस दिन सुबह-सुबह मेरे पड़ोसी आए। पूछने लगे, "आपके घर में चूहे तो नहीं हैं?"

"क्यों?" मैंने जवाब में पूछा।

"मेरे बेटे ने सुबह उसको आपके घर से निकलते देखा था।"

"तो?" मेरा तेवर काफी आक्रामक था।

"पिछले कई दिनों से वह हमारे घर से टमाटर, धनिया ले जा रहा है।" आपकी गाय हमारे बागान में घुस आई थी-- जैसा एक छोटा परंतु असरदार आरोप।

मन हुआ बोलूँ, परंतु शिष्टाचार के नाते चुप रहा। मुझसे कुछ जवाब पाने की उम्मीद भी नहीं थी पड़ोसी को। बिन बताए जिस तरह आए थे, बिन कहे उसी तरह लौट भी गए।

उस रात मैंने निश्चय किया कि नजदीकी शहर से चूहामार दवा ले आऊँ। वहाँ तो कोई मुझे नहीं जानता। पद को बिना खतरे में डाले घूम सकता हूँ वहाँ बाजार में। दूसरे दिन गया भी। मगर वहाँ भी वही मुसीबत। जिससे भी पूछो, कहता है, "नहीं है।" ज्यादा पूछो तो जवाब मिलेगा, नहीं मालूम कहाँ मिलेगा। बेवकूफ कहीं के! इन लोगों से तो भगवान ही

बचाए। थोड़ा सा चूहामार भी नहीं रखा किसी ने। मैंने पूरे शहरवासियों की खिल्ली उड़ाई।

फिर सोचा, कहीं ऐसा तो नहीं कि दुकानदार मेरी बात ही न समझ रहा हो। पहले पता करना होगा यहाँ की बोली में क्या कहते हैं चूहे को। तब पता चलेगा चूहामार कहाँ मिलेगा। अब मैं चूहामार के बदले बिना भीड़-भाड़वाली कोई दुकान ढूँढ़ने लगा, जहाँ समझा पाऊँ कि चूहा क्या होता है। जहाँ समझने के लिए दुकानदार के पास थोड़ा समय हो और समझते वक्त मुझे हतोत्साहित करने कोई दूसरा ग्राहक वहाँ न आ टपके।

तभी एक वैसी ही दुकान दिखाई पड़ी। वहाँ न कोई भीड़ थी न ही भीड़ होने की संभावना। शीशे के फ्रेम में बंद देवी-देवताओं की तस्वीरें काफी धुँधली हो चुकी थीं। दुकान में सजावट के नाम पर कुछ फ्यूज बल्बों की माला, दो-चार फिल्मी अभिनेत्रियों की तस्वीरें, जो उन अभिनेत्रियों की ही तरह पुरानी पड़ चुकी थीं। दुकानदार की कुर्सी पर एक कम उम्र का लड़का बैठा था जो सचमुच केवल बैठा था। आराम से। यहाँ पूछा जा सकता है– चूहे को क्या कहते हैं। अब वहाँ की टूटी-फूटी बोली में मैंने लड़के से पूछा, लड़का निरुत्तर। फिर मैंने ग्राहक के अंदाज में पूछा, "चूहामार है?"

लड़के का संक्षिप्त सा उत्तर, "नहीं।"

"तुम जानते हो चूहा क्या होता है?"

"हाँ।"

"क्या होता है?"

लड़का मुस्कुरा दिया। मतलब, उसकी समझ में नहीं आया कुछ।

वैसी हरकत किसी और ने की होती तो शायद मैं गुस्से से आग-बबूला हो उठता। लेकिन आज खुश हुआ। मेरा अनुमान सही निकला। लोग यहाँ चूहे को कुछ और कहते हैं। बहुत ही मधुर स्वर में मैंने उसे समझाया, "खेत में धान खाता है।" लड़के ने कहा, "गाय।" मैं डर गया। अच्छा हुआ कि आसपास कोई बड़ा आदमी नहीं था। गोहत्या की साजिश में खासा बवाल खड़ा हो जाता।

"अरे नहीं, भई! तुम्हारी दुकान में भी होगा।"

"नहीं! हमारी दुकान में नहीं है।" मुझसे पीछा छुड़ाने के अंदाज में जवाब दिया।

चूहे का आकार बताने के लिए तब मैंने हथेली से कटोरा सा बनाया। उसकी चाल दिखाने के लिए दुकान में रखे टीन के डिब्बों पर अंगुलियाँ चलाईं। चूहे की आवाज की नकल उतारी। बोला, वह बिस्कुट, डबल रोटी खाता है। और बिल्ली उसे खाती है। (चलो, आज चूहामार न मिला तो एक बिल्ली पालने की व्यवस्था करूँगा)

बच्चे को आज समझाकर ही रहूँगा। मन में केवल एक ही डर– कहीं उसके बाप-चाचा न आ जाएँ। अभी तक की सारी मेहनत पर पानी फिर जाएगा। खैर, लड़का अंततः समझ गया। चिल्लाते हुए बोला, "निगुनी तो टमाटर खाता है।" उसकी आवाज और आँखों में विश्वास की एक झलक सी दिखाई दी। किसी और से पूछे बिना मैं निश्चिंत हो गया कि यहाँ चूहे को निगुनी कहते हैं।

मैंने पूछा, "कहाँ मिलेगा?"

"खेत में।"

"अरे निगुनी नहीं, निगुनी को मारनेवाली दवा।"

"ज्योति स्टोर।"

हथेली पर निगुनी और ज्योति स्टोर लिखकर, ताकि भूल न जाऊँ, अब मैं ज्योति स्टोर ढूँढ़ रहा था। चलो आधा काम तो हुआ।

कुल्हाड़ी, हँसिया, हथौड़ा आदि लोहे के सामानवाली एक हार्डवेयर की दुकान ज्योति स्टोर। कुत्ते बाँधनेवाली लंबी-लंबी लोहे की चेन भी लटक रही थी दुकान के आगे, फूल-मालाओं की तरह। दुकान देखते ही लगा भला यहाँ क्यों मिलने लगा चूहामार। परंतु इतने विश्वास से जब लड़के ने कहा है तो हो सकता है मिलता भी हो। मैंने दुकानदार से पूछा। "क्या आपको ये निगुनीमार दुकान लग रही है।" दुकानदार ने मजाक करते हुए पलटकर पूछा।

निराश होकर मैं बाहर चला गया। लगता है लड़के ने चूहेदानी समझा। और मुझे हार्डवेयर की दुकान में भेज दिया।

ज्योति स्टोर से निकलकर मैं एक और दुकान में गया। दुकानदार कुछ देर तक मुझे ताकता रहा। शायद मुझ पर दया सी आ गई उसे। "क्या आप नए हैं यहाँ?" मैंने हामी भरी। "निगुनी मारना अच्छा नहीं माना जाता है यहाँ। कई देवी-देवताओं के वह वाहन जो हैं। प्यार से लोग उसे चावल, दूध खिलाते हैं। शनिवार के दिन आइए हाट लगता है यहाँ। नदी पार के

एकाध व्यापारी निगुनीमार लाते हैं।" एक मिनट की चुप्पी के बाद उसने फिर कहा, "धीरे से पूछना दुकानदार से, शायद दे दे।"

चूहा मारना कोई आसान बात नहीं। बाहर आकर मैं इस नतीजे पर पहुँचा। पहले ही दिन अंडेवाले ने इस रहस्य को बता दिया होता तो आज यह दिन देखना न पड़ता। बेवकूफ कहीं का! मेरा तबादला करनेवाले उन अफसरों के साथ अब अंडेवाले को भी मैंने मन ही मन कोसा।

अब मेरे पास बस एक ही विकल्प बचा है कि हाट के दिन आऊँ और चूहामार ले जाऊँ।

घर लौटने के लिए जब मैं बस में चढ़ा, पूरी तरह थक चुका था। इतनी भाग-दौड़ आखिर बेकार हुई। पहाड़ों की हरियाली, ऊँची आवाज में टिकट बाँटनेवाला बस कंडक्टर और उससे भी ऊँची आवाज में गीत गानेवाला अंधा भिखारी या फिर बस में यथासंभव ढँककर अपने बच्चे को दूध पिला रही वह युवती माँ– किसी पर भी मेरी नजर टिक नहीं रही थी। खिड़की से टिका मैं गुमसुम बैठा था। जिंदगी बेजान सी लग रही थी। इतने में एक भद्रलोक जैसा व्यक्ति आया। मेरी पासवाली सीट पर बैठा। कपड़े से लग रहा था मुझ जैसा बाहरी है। शायद यहाँ कहीं नौकरी करता होगा। परिचय के बाद पता चला हम दोनों एक ही शहर में नौकरी करते हैं।

परिचय होने से पहले ही उसने यहाँ के लोगों को लताड़ना शुरू कर दिया। "कुसंस्कार तो यहीं जन्मा है।" मेरे लिए विषय प्रासंगिक था इसलिए दिलचस्पी भी बढ़ी। उसका कहना था कि यहाँ के लोगों में जरा भी बुद्धि नहीं है। बेवकूफ कहीं के। बातों-बातों में उसने कुछ तथ्यों को उजागर किया जो मुझे पहले से मालूम थे। वह ऊँची आवाज में भी बोलता तो शायद कोई बुरा न मानता, पर वह मेरे कानों में ही बोल रहा था। कोई और समय होता तो शायद मैं टोक देता। मगर आज स्थिति कुछ भिन्न थी। हम दोनों ने मानो यहाँ के खान-पान, सभ्यता-संस्कृति और लोगों के खिलाफ एक विशाल मोर्चा गढ़ लिया था।

जब चूहा मारने की बात आई तो उसने कहा, "पिछले साल एक चूहे ने मुझे इतना तंग कया कि...

अब मुझे लगा मानो वह श्रोता है और मैं वक्ता। मेरी ही आपबीती बातें वह अपनी जुबान से कह रहा था। इसलिए चूहों के उत्पात की विशेष जानकारी लेने में न मुझमें धैर्य था न ही मैंने उसकी जरूरत ही समझी।

उसकी बात को आगे बढ़ाने के लिए मैंने कहा, "आखिर आप बचे कैसे?"

"चूहामार ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गया मैं। कोई कहता है..."

उसकी कोई जरूरत नहीं। मुझे पता है क्या कहा होगा लोगों ने। आगे बढ़िए। ... यह सब कहने को सोचा जरूर था, पर कह नहीं पाया।

अंदेशा था कहीं वह बुरा न मान जाए। आपसी वार्ता का सिलसिला जारी रहना चाहिए। आखिरकार उसीसे निकलेगा चूहामार का विकल्प।

वह भी कोई कम नहीं था। बोलने लगा। चूहा मारने की प्रेरणा उसे अपने दादा से मिली थी। "पूछिए कैसे?" मजबूरन मुझे पूछना पड़ा, "कैसे?" झूठे रीति-रिवाजों से लड़ना तो दादाजी के जीवन का लक्ष्य था। अपनी छोटी उम्र में ही उन्होंने...

मुझमें और धैर्य नहीं रहा। उसके वक्तव्य को संक्षिप्त करने की उम्मीद से मैंने टोका, "आखिर आपको चूहामार मिला कैसे?" (इतना बता देगा तो आगे इससे बात करने की कोई जरूरत नहीं रहेगी।)

उसने जवाब दिया, "भाई को लिखा था। उसने तुरंत पार्सल कर दिया..." अलग-अलग रहने के बावजूद किस तरह उसका भाई उसकी हर आज्ञा का पालन करता है, उसके अनेक उदाहरण दिए उसने।

मैंने अपना दुखड़ा सुनाया। चूहेवाली बात आखिर उसको बतानी ही थी। उसने सलाह दी, अपने भाई को लिखिए।

"नहीं, उससे पहले तो पिताजी को लिखना होगा।"

"क्यों?"

"एक भाई के लिए।" मैंने कहा।

"आप तो अच्छा मजाक कर लेते हैं। सुनिए, मेरे पास थोड़ा सा चूहामार बचा है। आप चाहें तो ले सकते हैं।"

मैं तुरंत राजी हो गया। बस से उतरते ही उसके घर गया। उसे इसमें कोई एतराज नहीं था बशर्ते मैं उसकी बातें सुनूँ। अब वह चूहामार का गुण बखान रहा था। बोलता जा रहा था। हालाँकि उसकी बातों में न समझने लायक कुछ भी नहीं था, हर बार वह पूछता, "नहीं समझे? यह चूहामार इतना खतरनाक है कि क्या बताऊँ? बोतल पर लेबल लगा होता है मैट्रीकुलेशन के परीक्षार्थी, बेकार युवक और प्रेम में असफल प्रेमियों को बेचना सख्त मना है।" अच्छा हुआ कि प्रेमिका की चिट्ठीवाली बात का जिक्र मैंने बातों-बातों में नहीं किया था। वरना शायद वह मुझे देता भी नहीं।

चूहामार लेकर आते हुए मैं काफी खुश था। चलो, एक काम तो हुआ। सोने से पहले मैंने चूहे के आने-जाने के सारे रास्ते अच्छी तरह खोल दिए। इधर-उधर बिस्कुट के टुकड़े फेंके और साथ में चूहामार। बत्ती बुझा दी। अब आओ बेटा! जरूर आओ आज।

रात को कई बार मेरी नींद खुली। बत्ती जलाकर मरे हुए चूहे को एक बार आँख खोलकर देखने की इच्छा हुई। अपने दफ्तर में चूहा मरने की खबर सुनाकर अपने शत्रुओं की जुबान बंद करने की ठानी। परंतु वैसा कुछ नहीं किया। बिस्तर पर मरे हुए जानवार सा चुपचाप पड़ा रहा। सुबह होने का बेसब्री से इंतजार किया।

सूरज उगने के पहले ही उठकर घर के चारों ओर नजर दौड़ाई। पर चूहा है कहाँ? यह तो बिल्ली है। मरी पड़ी है। चूहे की खोज में आई थी शायद, चूहामार खा गई। हे भगवान, खुद तो नहीं मरी, मानो मुझे ही मार डाला बेचारी ने!

किसी निराशावादी सा यदि इस बात का उपसंहार लिखूँ तो– चूहामार की गंध पाकर कल चूहा नहीं आया। चकमा दे गया मुझे, हमेशा की तरह। उसकी जगह बेवकूफ बिल्ली आई। चूहामारवाली रोटी-बिस्कुट खाकर मर गई। और यदि आशावादी सा सोचूँ तो– रात को चूहा आया है। चूहामार खाकर मरने को छटपटाया है। उस बीच बिल्ली आ पहुँची। विषाक्त चूहे को निगल गई। नतीजतन बेचारी बिल्ली भी मारी गई। शहीद हो गई मेरी खातिर।

सुबह-सुबह मरी हुई बिल्ली को फेंकने जब बाहर गया, मेरे मन में सिर्फ एक ही सवाल था– दफ्तर में चूहेवाली बात का आज क्या जवाब दूँगा? मार डाला है उसे? काफी बड़ा चूहा था? मारना क्या इतना आसान है, इतने बड़े चूहे को। और कोई होता तो शायद मार ही नहीं पाता। इसके अलावा और क्या जवाब दिया जा सकता है दफ्तर के बेवकूफ लोगों को?

प्लॉट का गच्चा

सरकारी अस्पताल के ऑपरेशन कक्ष के आगे बरामदा तो नहीं, बरामदे सी थोड़ी सी खुली जगह। सुविधा के लिए बरामदा कहें तो शायद गलत न होगा। एक तरफ ऑपरेशन कक्ष और ऐन सामने एकदम खुला अहाता। आमने-सामने दो दीवारें, एक पुरुष वार्ड की और दूसरी महिला वार्ड की। दोनों दीवारों पर एक-एक लकड़ी का लंबा टुकड़ा जड़ दिया गया है जिस पर मरीजों की गैरहाजरी में सेवा-शुश्रूषाकारी बैठते-उठते हैं। दीवार पर एक ट्यूबलाइट टिका हुआ है। मकड़ी के जाले और उसके भँवर में फँसे अनगिनत सड़े-गले पतंगे और बाहर कीड़े-मकोड़ों की भीड़ के बावजूद ट्यूबलाइट का उजाला बरामदे पर बराबर फैला हुआ है। रात में उजाला और दिन में भी। यह सच है कि ट्यूबलाइट.पर अस्पताल की मुहर नहीं लगी हुई है फिर भी उस पर किसी और का नाम नहीं लिखा होने के कारण सब मान बैठे हैं कि यह अस्पताल का ही है। ट्यूबलाइट के ऊपर छत से झूल रहे सीलिंग पंखे के तीनों पंखों पर तीन अलग-अलग भाषाओं में दाता का नाम शंकरलाल जर्दावाला लिखा हुआ है।

ऑपरेशन कक्ष से जिंदा लौटनेवाले किसी मरीज की कभी किसी समय बाहर प्रतीक्षा करनेवाला था शायद यह शंकरलाल जर्दावाला। ऑपरेशन अगर रात को हुआ होता और शंकरलाल रतौंधी का मरीज होता तो जरूर दान में उसने एक ट्यूबलाइट भी दिया होता। और भविष्य में उसके जैसे रतौंधी-शुश्रूषाकारियों को पर्याप्त प्रकाश मिल जाता और शंकरलाल को अपना नाम लिखवाने की एक और जगह। बरामदे में बैठने-उठनेवाले उसकी वाहवाही करते और जब-तब अपनी सुविधानुसार उसकी दुकान से जर्दा खरीदते-खाते। क्या अनोखा समन्वय है 'जनसेवा' और 'कारोबार' के बीच।

रात को सोने की खातिर साँझ घिरते ही लकड़ी के तख्तों में से

एक पर चादर बिछाकर मैंने अपना दखल जमाया। कल थोड़ी देर हो जाने की वजह से जगह नहीं मिल पाई थी; चादर नीचे बिछाकर सोना पड़ा था। सोने तक तो बात ठीक थी, पर फुलपैंट पहनकर जमीन पर खाना खाना बहुत ही मुश्किल पड़ा। फुलपैंट पहनकर जमीन पर बैठने से जितनी शारीरिक मुसीबत पैदा होती है उससे कुछ ज्यादा ही सामाजिक मान को ठेस पहुँचती है। शायद इसीलिए फुलपैंट पहले और तदुपरांत टेबुल की ईजाद हुई होगी इस समाज में। कल नीचे बैठकर खाते वक्त मन ही मन ठान लिया था कि जैसे भी हो आगे बेंच पर चादर बिछाकर उसे अपने नाम करूँगा। और कुछ नहीं तो पैर को नीचे की ओर फैलाकर खाना तो आराम से खा सकूँगा। इसके अलावा बेंच पर सोने से चींटी, मेंढ़क आदि के रास्ते में आड़े आने से बचूँगा।

जानबूझकर एक पुरानी चादर बिछाई थी मैंने। कल एक की चटाई चोरी हो गई थी। बेचारा आधी रात को पेशाब के लिए निकला था और वापस आते-आते उसकी चटाई गायब। उसने अपनी चप्पल पहन रखी थी वरना चटाई के साथ-साथ वह भी जाती। तनु को लेकर अस्पताल आते वक्त पिताजी ने मुझे ऐसी चोरी से आगाह किया था। अपने नाम बेंच करने के फेरे में अगर मैंने एक नई चादर बिछाई होती तो कुछ देर के बाद चादर और जगह दोनों से हाथ धोना पड़ता। पिताजी के आगाह करने को मन ही मन सराह रहा था मैं।

इधर चार दिनों से लगातार बारिश हो रही थी। बारिश से बचने के लिए अस्पताल के बरामदे में जितने लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई थी उससे कहीं ज्यादा संख्या में गायों और बछड़ों की मौजूदगी थी वहाँ। कुत्ते वहाँ आने का साहस जुटा नहीं पा रहे थे। पहिए और स्टियरिंग के बगैर खुद को गाड़ी कहलानेवाली जीप– जिसे लाल त्रिकोण चिन्ह अंकित होने के बावजूद फैमिली प्लानिंगवालों ने त्याग दिया था– के नीचे कुत्तों ने अपनी शरणस्थली बना ली थी। बरामदे में गौ-कुनबे के पेशाब का जमाव जिसे कल तक साफ होने की उम्मीद ही नहीं थी, लकड़ी के तख्त की महत्ता को जरूरत से ज्यादा बढ़ा रहा था और साथ ही सिमेंट के फर्श की मर्यादा को भी चकनाचूर कर रहा था।

सच कहूँ तो मैं तनु के साथ इधर अस्पताल के लिए रिक्शे में बैठा और उधर बारिश शुरू। रिक्शे से उतरने तक बारिश खत्म हो जाने

की आशा थी। परंतु चार दिन हो गए बारिश लगातार हो रही है। 'हमें परेशान करने के लिए ही बारिश ने यह साजिश रची है'– कल माँ कह रही थी। सचमुच अगर अस्पताल से लौटने के बाद मौसम ठीक हो जाता है तो ऐसी ही दो-चार घटनाएँ किसी को भाग्यवादी बनाने के लिए पर्याप्त हैं।

अनिच्छा के बावजूद जाकर कुछ देर बैठा तख्त पर। कल सुबह तक यह तख्त मेरा है– यह भाव जताने के लिए यह एकमात्र विकल्प था मेरे पास। अब तनु की चिंता नहीं। रात भर वह चैन से सोएगी। इंजेक्शन, दवाई सब कुछ कल सबेरे ही फिर दिए जाएँगे। ऐसे छोटे-मोटे ऑपरेशन के मामले में ऑपरेशन से पहले का एक दिन और ऑपरेशन के बाद के दो दिन ही तकलीफदेह होते हैं। थोड़ी सी एहतियात बरतने से सेप्टिक से मुक्ति। और सेप्टिक से मुक्ति का मतलब है आठवें दिन अस्पताल से छुट्टी। एक फॉर्मेलिटि निभाने जैसी अस्पताल में बस पड़े रहने की बात है। हाँ, जिन रोगियों के साथ जीवन-मरण का प्रश्न है उनकी बात दूसरी है। इसके अलावा फुलपैंट-सर्ट पहने होने का यहाँ अर्थ है आधा वी.आई.पी. बन जाना। नर्स, कंपाउंडर की बात छोड़िए, डॉक्टर भी 'आप' संबोधन करेंगे. इस बारे में मैं निश्चिंत था। 'हे भगवान'। तनु का क्या होगा?' के बदले 'कैसे आठ दिन कटेंगे?' जैसी चिंता मुझे अंदर ही अंदर खाए जा रही थी।

ज्यादा मुसीबत तो उसे झेलनी पड़ती है जो पहली बार अस्पताल में मरीज लेकर आया है। उधर गाँव में जिसकी खेती-बाड़ी तहस-नहस हो रही है। गाँव में मछली-केंकड़ा पकड़नेवाला लुंगी पहनकर शहर के गलियारों में दवाई की दुकान ढूँढ़ रहा है, डॉक्टर से लेकर झाड़ूदार तक को वह 'आप' संबोधित कर रहा है और बदले में 'तू' सुन रहा है। मैं कुछ देर ऐसे ही दुखीजनों की बात सोच रहा था क्योंकि मेरे पास करने के लिए कुछ शेष बचा न था। तनु सो गई है। तनु के लिए खाना आने के बाद ही अपने खाने-पीने की बात सोची जाएगी। सोने का वक्त अभी नहीं हुआ है। बावजूद इसके तसल्ली की बात यह है कि लकड़ी का तख्त मिल गया है। दूसरों के बारे में सोचने के लिए इससे अच्छा वक्त और क्या हो सकता है?

कुछ देर सोचने के बाद मन ऊबने लगा। बीमार स्त्रियों के छोटे-छोटे बच्चे अपनी माँओं से ज्यादा शोर मचा रहे हैं। मक्खियाँ अँधेरा होने से पहले भिनक लेने का अपना कोटा पूरा करने में मशगूल हैं। अँधेरा छाते

ही उन्हें मच्छरों के लिए मैदान खाली जो करना था। सोचने के लिए वक्त ही नहीं देंगे ये। मैं अस्पताल के गेट की ओर चला। तनु का भाई आता ही होगा। भूख भी लगने लगी है। जल्दी खाकर लेट जाने में ही खैर है। बाकी कुछ उस समय सोचा जाएगा।

तनु का भाई आया। यद्यपि यहाँ सिर्फ टिफिनकैरियर की ही जरूरत थी, फिर भी साथ में साइकिल और छतरी भी आई हैं। छतरी, साइकिल, टिफिनकैरियर- हर एक के लिए कम से कम एक-एक हाथ की जरूरत होती है। कुल मिलाकर दो हाथों से वह ये सब कैसे लाया, बस उसे ही पता होगा। गेट से ही टिफिनकैरियर लेकर लौटा दिया उसे। अँधेरा छा गया है और ऊपर से बारिश भी हो रही है। उसे जल्द ही लौट जाना चाहिए।

बरामदे पर वापस आकर देखा, मेरी चादर को सरकाकर आराम से एक बुढ़िया बैठ गई है। दूसरों की जगहों पर अपना कब्जा जमाने के अलावा उस पर कोई दूसरा आरोप नहीं था। वह निश्चिंत होकर बैठ गई है। सोने का वक्त नहीं हुआ था, वरना शायद अब तक सो गई होती वह!

बुढ़िया को देखकर मुझे गुस्सा आया। कितने मूर्ख हैं ये लोग। पढ़े-लिखे न भी हों तो भी क्या इतनी इनकी समझ में नहीं आ रहा है कि जगह किसी और की है? किसी ने इसे अपने लिए सुरक्षित कर रखा है? क्या यह भी समझ में नहीं आ रहा? मेरी चादर हटाकर बैठ गई है? तू तो ठहरी बुढ़िया, मेरे साथ झगड़ाकर जीत तो नहीं सकती? अगर तुझे तख्त से नीचे घसीट लाऊँ तो लोग मुझे ही कसूरवार ठहराएँगे। कहेंगे थोड़ी सी जगह के लिए एक बूढ़ी के साथ झगड़ा कर रहा है। मन ही मन कई बातें सोच गया। परंतु कहा कुछ नहीं। मेरे अंदर बैठा जवान व्यक्तित्व मुझे लड़ने के लिए जितना उकसा रहा था, उतना ही मेरा बाहर का पैंट-सर्ट पहननेवाला परिपक्व व्यक्तित्व लोक-लाज की खातिर मुझे रोक रहा था। तख्त के लिए न तो बुढ़िया से लड़ पा रहा था न ही चुप होकर बुढ़िया के अनधिकार को झेल पा रहा था। कुछ मुहूर्त पहले की निश्चिंतता अब झपकी की भाँति मन से गायब हो गई थी।

विवश होकर कहा, "उठो यहाँ से।" बुढ़िया पूर्ववत गुमसुम बैठी रही। वह मेरी ओर ध्यान ही नहीं दे रही थी। "क्या तुझे दिखाई नहीं दे रहा कि पहले से कोई चादर डाल गया है यहाँ?" बुढ़िया की ओर से कोई

जवाब नहीं मानो उसने कसम खा ली है मेरी ओर न देखने की, मेरी बात न सुनने की। बस एकटक सामने की ओर देख रही है। कहीं ये पगली तो नहीं? मुझे शक हुआ। इधर-उधर देखा अपने शक को यकीन में बदलने की खातिर।

सामने के तख्त पर कब्जा जमानेवाले पट्ठे ने कहा, "इशारे से कहो, बुढ़िया बहरी है।" बुढ़िया के समर्थऩ में कुछ न कहने के बावजूद उसकी बातों में संवेदना का पुट था।

सब बदकिस्मती है। इतने मुश्किल से तख्त मिली थी; वो भी हाथ से गई। बेंच के जिस टुकड़े पर मेरी चादर लुंज-पुंज होकर नागरिक के मौलिक अधिकार की भाँति पड़ी हुई थी, वहाँ बैठकर मैंने टिफिनकैरियर को खोला। कम से कम बची हुई जगह का सदुपयोग तो होना चाहिए। भूख जोर की लगी थी। पहले बेंच पर बैठकर खा लूँ, उसके बाद सोने के बारे में सोचा जाएगा।

यह टिफिनकैरियर उसमें खाने की जो भी चीजें क्यों न हो, ही बरामदे में मौजूद और तौलिया बिछाकर सोने को उद्यत शुश्रूषाकारियों के बीच तिरंगे झंडे की भाँति मेरी और तनु की सामाजिक स्थिति को उजागर कर रहा था। अतः कई लोगों की लोलुप दृष्टि मुझ पर पड़ने की आशंका थी। मन के अंदर घिन पैदा हो रही थी। एक जवान लड़की सी अपनी आबरू छिपाने की भाँति मैंने अपना टिफिनकैरियर छिपाकर रखा था ताकि खाते वक्त उस पर दूसरों की नजर न पड़े। हाँ, बुढ़िया की ओर खुला जरूर रखा था ताकि मुझे खाते हुए देखकर उसकी लार टपकेगी तो मेरा गुस्सा कुछ तो कम होगा।

प्रतिशोध लेने का नया तरीका था मेरा। परंतु बुढ़िया का ध्यान मेरी ओर था ही नहीं। पहले जैसी वह सामने की ओर देख रही थी। वरना कुछ नहीं तो अचार को देखकर उसकी लार जरूर टपकती। उसके न देखने से मुझे दुख हुआ।

मेरा खाना खतम नहीं हुआ था। पीछे से किसी की आवाज आई, "बेटे के लिए खाने को कुछ दे दो। बारिश के कारण कहीं जा नहीं पाई।" मैंने पीछे की ओर अपना सिर घुमाया तो देखा एक औरत और साथ में दो-तीन साल का एक बच्चा। माँ-बेटे, दोनों मेरी ओर ताक रहे हैं। बुढ़िया के प्रति मेरे मन में जो गुस्सा था उसे उस औरत पर उड़ेल देने की इच्छा

जगी। परंतु देखा वह सब कुछ भी सुनने की मानसिक तैयारी पहले से कर चुकी है। मुझसे कुछ पाने की उम्मीद भी नहीं है उसके मन में। इसीलिए अपनी एकमात्र अलुमिनियम कटोरे को खाली भी नहीं किया था उसने। फटे कपड़े, भाँग की डिबिया और कुछेक टूटे-फूटे खिलौने थे उस कटोरे के अंदर। बेटे की बात यूँ ही कह दी थी उसने। इनकार कर दूँ तो शायद उसे दुख हो, परंतु वह चकित न होगी।

अगर उस औरत ने मुझसे कुछ पाने की उम्मीद रखी होती तो मेरा गुस्सा दुगुना हुआ होता। अब गुस्सा उतर गया है। यद्यपि एक रोटी ज्यादा न हो रही थी, फिर भी एक रोटी दे देने से कुछ कम न पड़ रहा था मुझे। रात को पाँच रोटियों के बदले यदि चार रोटियाँ खाई जाएँ तो कोई दिक्कत नहीं। परंतु बच्चा कुछ भी न खाने के बदले, उसकी माँ के कथनानुसार, एक भी रोटी खा ले तो बड़ी बात होगी। मैंने उसे एक रोटी दे दी। बुढ़िया के प्रति एकत्रित मेरा सारा गुस्सा उस औरत पर उड़ेलने की बात ऐसी ही बेकार गई। सब्जी देने से पहले कहा, "तरकारी तो जूठी है।" परंतु औरत चुप। मैं समझ गया। जूठी तरकारी दूँगा तो उसे स्वीकारना उसकी मजबूरी होगी, बल्कि नहीं दूँगा तो उसे खुशी होगी। तरकारी नहीं दी मैंने। इतना ही नहीं, वह औरत जूठी रोटी और जूठी सब्जी के बीच के फर्क को समझ पाने में समर्थ थी, यह जानकर मुझे खुशी हुई।

उसने उस रोटी के छोटे से छोटे टुकड़े कर दिए। यह मानकर कि जितने अधिक टुकड़े होंगे, उसका परिणाम उतना ही अधिक होगा। बेटे के साथ-साथ खुद को बहलाने की तरकीब निकाल ली थी उसने। बेटे को खिलाते समय मुझे सुनाने की खातिर उसने यह बखान किया कि आज क्यों खाने का जुगाड़ नहीं हो पाया। उसकी शिकायत थी तो बस बारिश से। उसकी बातों से मालूम हुआ कि वह अस्पताल में भर्ती किसी मरीज की शुश्रूषाकारी नहीं बल्कि यह उसकी शयनस्थली थी। रेलवे प्लेटफार्म, बस अड्डे की तरह अस्पताल का बरामदा उसके लिए धर्मशाला है। सारे दिन के कामकाज निपटाकर रात को यहाँ आती है सोने के लिए और यहाँ की कैंटीन से एक रुपया देकर भात-दाल का जुगाड़ करती है और वह एक रुपया जुगाड़ करती है किसी-किसी के घर में बर्तन माँजकर। आज बारिश की वजह से उसके सारे जुगाड़ पर पानी फिर गया

है। बेचारी यह साबित करना चाहती थी कि माँगकर खाने की वृत्ति उसकी नहीं। अपने एक रुपए जुगाड़ करने की बात को साबित करने के लिए शहर के किसी नामी वकील का नाम ले रही थी वह। कह रही थी उसके घर में बर्तन माँजती है। उसकी चिंता थी कि मैं उसे कहीं वेश्या न समझ बैठूँ। सचमुच एक पूर्ण वयस्का नारी को अकेले रहते देखकर, उसके पेशे को एक पुरुष आखिर क्या कोई अलग नाम दे सकता है?

बरामदे में सोनेवाले और सोने के लिए आनेवाले अनगिनत मानवों के बीच सिर्फ एक रोटी की बदौलत उस औरत से मेरी एक तरह की पहचान सी हो गई। रोटी की कीमत चुकाने के प्रयास में अनगिनत बातें करने लगी उस औरत ने और रोटी की रकम वसूलने के चक्कर में मैं भी अनगिनत प्रश्नों का जबाव चाहने लगा उससे। एक रोटी के बदले में एक कहानी के प्लॉट की उम्मीद करना क्या एक लेखक के लिए अनुचित है? परंतु दूसरे ही पल मेरी लेखकीय संवेदना कहीं गायब हो गई।

लकड़ी के तख्त में जगह न पानेवाला एक शुश्रूषाकारी मात्र हूँ मैं। मेरे सारे दुख का कारण है यह बुढ़िया, जिसने मेरी जगह पर उन्नीसवीं सदी के औपनिवेशिक की भाँति अपना हक जमा लिया है। औरत से चूँकि मेरी पहचान हो चुकी थी, इसलिए अमूर्त लेखकीय कल्पनालोक में खुद को सीमित न कर मैंने बुढ़िया के विरुद्ध जनमत एकत्रित करना निश्चित किया, "मैं यहाँ अपनी चादर बिछाकर गया था। थोड़ी देर बाद आकर देखता हूँ यह बुढ़िया उसे सरकाकर वहाँ आराम फरमा रही है।"

मुझे समर्थन करने में असमर्थता जाहिर करते हुए उस औरत ने कहा, "वह जगह उसकी है, हर दिन वह आकर सोती है वहाँ।" महज एक रोटी की खातिर अगर वह बुढ़िया के अधिकार को नकार देती तो कल उसके अधिकार, बरामदे के कोने पर भी उँगली उठेगी, इतना वह बखूबी जानती थी। मैंने सोचा बुढ़िया के विरोध में यहाँ कुछ कहना ही बेकार है। सुन-समझ न सकने के बावजूद बुढ़िया अपना सशक्त पक्ष पहले से तैयार कर चुकी है यहाँ। अच्छा यह होगा कि अच्छी बातचीत को ही बहस का मुद्दा बनाया जाए। वैसे भी कम से कम आज की रात बुढ़िया को तख्त से हटाना तो मुश्किल है। जो होना है कल को ही होगा। आगे पीछे सोचकर मैंने पूछा–

"बुढ़िया का अपना घर नहीं?"

"है एक कमरेवाला घर। बेटे की शादी के बाद यहाँ चली आती है सोने के लिए।"

"कोई मना नहीं करता इसे?"

"क्यों कोई मना करेगा? किसका क्या आता-जाता है?"

हमारी बातचीत को लेकर बुढ़िया की कोई प्रतिक्रिया नहीं। मैं जब उसका विरोध कर रहा था तब वह न गुस्सा कर रही थी, न ही उस औरत के समर्थन से वह खुश हो रही थी। जैसी बैठी थी वैसी ही थी। किसी के साथ कोई बातचीत नहीं, एकदम मौन। किसी फिल्म के आवारा चरित्र सा न तो वह घर-घर की रट लगा रही थी, न ही दोतल्ला बँगले का सपना देख रही थी। और अगर देख भी रही होगी तो हमें उसका भान नहीं हो रहा था।

तब बहुत रात हो गई थी। टिफिनकैरियर को तनु के बेड के नीचे रख मैंने वही पुरानी चादर नीचे बिछा दी। दिन भर की दौड़-धूप के कारण सभी शुश्रूषाकारी सो गए हैं। जिन मरीजों को नींद नहीं आ रही थी, वे मजबूर होकर जबरन आँखें मूँदकर सोने का भान कर रहे थे। 'ओह', 'हाय राम', 'मर गया' जैसी आवाजें और रोना-बिलखना, जो अस्पताल के रोजमर्रा के हिस्से माने जाते हैं, सब गायब थे। यहाँ तक कि प्रसूति वार्ड के एकाध नवजात बच्चे और आसन्नप्रसवाओं को छोड़ दें तो कोई शोर नहीं मचा रहा था। ड्यूटी रूम की नर्स कुर्सी को खटिया समझकर झपकी ले रही है। कुल मिलाकर कहा जाए तो कुछेक मच्छरों की आवाजाही की गुंजन और एकाध लोगों के खर्राटे मारने की पुरानी आदत के अलावा वातावरण शांत था। खुद को अस्पताल का झाड़ूदार कहकर शुश्रूषाकारियों से चाय पीने के नाम पर पैसा ऐंठनेवाला मद्यप गायों को खदेड़ चुका था। अब क्या है, जगह ही जगह, बस गायों की पेशाब को नजरअंदाज करने की देरी है।

तनु के पेट-ऑपरेशन को आज चौथा दिन हो गया था। और चार दिन के बाद यहाँ से मुक्ति। एक दिन घर में आराम कर फिर ऑफिस जाना होगा। इधर अस्पताल की ड्यूटी की बागडोर मैं ही सँभाल रहा था। माँ या सासूमाँ के रहने से कोई फायदा नहीं। फिर घर में उनकी उपस्थिति भी बहुत जरूरी थी। तनु भी उठने-बैठने लगी थी। देखभाल के लिए एक ही व्यक्ति काफी है। वैसे भी रोज-रोज दवाइयों की नई-नई पर्ची

नहीं थमाई जा रही थी और न ही बेड के पास बैठने की खास जरूरत पड़ रही थी। सोचने-विचारने के लिए काफी वक्त मिल रहा है अब। सबेरे अस्पताल से जो चादर मिली थी उसके ऊपर एहतियात के तौर पर घर की चादर बिछा देने की बात मैं सोच रहा था।

तनु के पैर की ओर एक औरत पड़ी हुई थी। कोई नहीं है उसके पास। सहारे के नाम पर उसके पास था तो बस एक अलुमिनियम का लोटा जिसके आधा में पानी बचा हुआ था। जिस मात्रा में वह पानी पी रही है कुछ ही देर में लोटा खाली जरूर हो जाएगा। नर्स आकर एक के ऊपर एक दवाइयों की दो पर्चियाँ दे गई थी। परंतु लानेवाला उसके पास कोई नहीं, जिसके कारण वह दाइयों की डाँट भी खा चुकी थी। मैंने पूछा, "तुम्हारा कोई नहीं है यहाँ?" जवाब में उसने इतना ही कहा, "आते ही होंगे।" वह न तो अपने पति का अनादर करना चाहती थी, न ही दूसरों की दया का पात्र बनना चाहती थी।

सचमुच शाम होने से पहले एक आदमी आया और दवाइयों की सारी पर्चियाँ ले गया। कोई बातचीत नहीं की उसने। लगा, उसके पास वक्त ही नहीं। जब तक वह दवाइयाँ लेकर आता तब तक उस औरत का स्थान बदला जा चुका था। बेड की अनुपलब्धता के कारण मरीजों को अब जमीन की शरण लेनी पड़ रही थी। अस्पताल में बेड बहुत ही कम हैं। सरकार की लापरवाही समझिए। उन्नीस सौ बयालीस का अस्पताल उन्नीस सौ बानबे तक पहुँचने के बाद भी कोई परिवर्तन नहीं। कल एक डॉक्टर कह रहा था- "शहर में जनसंख्या बढ़ रही है, नई-नई बीमारियाँ पैदा हो रही हैं। नर्स, दाई, डॉक्टर की संख्या भी पहले से ज्यादा ही है। अगर बढ़े नहीं हैं तो बस अस्पताल के बेड।" डॉक्टरों की संख्या में बढ़ोत्तरी की बात स्वीकार कर वह विरोधी दल के नेता के बयान से अपने को अलग कर रहा था। वह जानता था कि अगर सरकार को आधा-अपाहिज कहा जाए तो लोग उसका समर्थन करेंगे, विरोध नहीं। विरोधी दल के नेता की तरह 'पूरा-अपाहिज' कहने पर लोग अंदेशा करने लगेंगे।

वह आदमी एक हाथ में दवाई और दूसरे हाथ में चिल्लर पैसे पकड़े इधर-उधर अपनी नजर दौड़ा रहा था। उसने देखा, उसकी बीवी के स्थान पर एक संभ्रात सी औरत मौजूद है। उसमें यह पूछने की हिम्मत भी नहीं कि उसकी बीवी गई कहाँ? मैंने कहा, "तुम्हारा पेशेंट उधर है।"

अस्पताल से साबका पड़ने के कारण वह शायद 'पेशेंट' का मतलब समझ ाता हो। मेरे इशारे के अनुसार वह आगे बढ़ा। औरत तो पहले से झेल रही थी उस घटिया जगह को। पहले जो नारियल-रस्सीवाला गद्दा मिला था वो भी हाथ से चला गया था। अस्पताल की सफेद चादर बिछा दी गई है बस। कोई प्रतिवाद नहीं किया उस आदमी ने। जो भी चीजें मिली हैं वे हाथ से न चली जाएँ।

कुछ देर बाद वह आदमी बरामदे की ओर चला गया। तौलिया के सहारे जमीन झाड़कर वहीं सो गया। रिक्शा चलाता है वह। सारे दिन रिक्शा चलाया था उसने। दिन भर की कमाई लेकर अस्पताल आया है बीवी की सेवा-शुश्रूषा करने। थकान इतनी ज्यादा थी कि लेटते ही सो गया। इधर मुझे नींद नहीं आ रही थी। कितना निश्चिंत होकर सो गया है वह आदमी, उसकी बीवी का चाहे जो हो। मैं जितना प्यार तनु को करता हूँ क्या यह आदमी उससे कम प्यार करता होगा अपनी बीवी को? यदि करता है तो दिन भर वह अपनी बीवी के बेड (यद्यपि उसकी बीवी को बेड नहीं मिला था) के पास क्यों नहीं बैठता? अपनी बीमार बीवी को खुश करने के लिए मीठी-मजाकिया बात क्यों नहीं कर रहा? 'मेरी बीवी का क्या होगा?' का रोना क्यों नहीं रो रहा? 'उसे बचा लो भगवान' की गुहार क्यों नहीं लगा रहा? बीवी... बीवी... बीवी कहकर पगला क्यों नहीं जा रहा?

दिन में बुढ़िया के तख्त को छोड़ मैं दूसरे तख्त पर जा बैठा। आज किसी का ऑपरेशन नहीं है शायद। मेरा टिफिनकैरियर आ गया था। कलवाली औरत फिर अपना बच्चा लेकर मेरे पास आई। उसके हाथ में भात भरा भगोना था। रात को भात लेने नहीं गई तो कैंटीन के रसोइए ने आज ज्यादा भात दे दिया है। इतना भात कौन खाएगा? मेरे पास औरत के इस प्रश्न का उत्तर न था। वह भी मुझसे उत्तर की अपेक्षा नहीं कर रही थी। उसके कथन में सिर्फ पिछली रात की सफाई थी। मेरे चेहरे पर चिड़चिड़ापन का भाव न देख उसने फिर कहा, "बदले में उसको एक रुपया मिल ही जाता है। और भी कई लोग जाते हैं भात खरीदने। परंतु डॉक्टर को मालूम हो जाएगा तो उसकी नौकरी चली जाएगी के डर से रसोइया दूसरों को भात नहीं बेचता।"

बारिश का मौसम। बूढ़ी भी आ चुकी है आज। शायद उसका बेटा

कहीं काम करने नहीं गया। इसलिए बुढ़िया अलुमिनियम का लोटा लिए दोपहर को ही बरामदे में हाजिर हो गई थी। बिना किसी बातचीत के वह जाकर बैठ गई अपने तख्त पर। कोने को अपने लिए सुरक्षित करने के लिहाज से औरत ने अपना फटा कपड़ा पहले से बिछा रखा था। मेरे न चाहने के बावजूद हम तीनों में एक प्रकार की पहचान सी बन चुकी थी तब तक। तनु के स्वास्थ्य में लगातार सुधार होने के अलावा आज सबेरे ही एक परिचित कंपाउंडर मिल गया था, जो हरसंभव सहायता देने का वचन दे चुका था, जिसके कारण मेरा मन हलका हो गया था और इसीलिए हम तीनों के परिचय-भाव को लेकर मेरे मन में कोई कुंठा न थी। दूसरी ओर महिला वार्ड में तनु के बेड के पास हमेशा बैठे रहना संभव न होने की स्थिति में मैं इस प्रकार की पहचान के लिए विवश था। खाना खाने के बाद मैंने उस औरत से पूछा, "कब से यहाँ रह रही हो?"

"इसका बाप मुझे छोड़ देने के दिनों से।" खुले बरामदे में खेल रहे बेटे की ओर इशारा करते हुए उसने कहा।

"कब छोड़ दिया तुमको?"

"तब तो मेरे बेटे ने ठीक से चलना भी नहीं सीखा था। अब तो दौड़ने लगा है।" देखा उसका समय का ज्ञान बेटे के जन्म, चलना, दौड़ना आदि तक ही सीमित है। अपने बेटे को केंद्र में रखकर ही शायद वह राष्ट्रसंघ की स्थापना, चीन का आक्रमण जैसी अंतरराष्ट्रीय घटनाओं को भी समझाएगी! इसलिए 'कब' विहीन प्रश्न पूछना ही स्थिर किया मैंने।

"क्यों छोड़ दिया तुमको?"

"छोड़ता नहीं तो और क्या करता? उस कलमुँही ने उसे मोहिनी जो लगा दी थी?"

"मोहिनी कैसे लगाई?"

"मोहिनी न लगाई होती तो ऐसी बुढ़िया के साथ रहता? उसकी छोटी बेटी तो मेरी उमर की है। क्या है उसके पास? ना उमर है, ना गठन। महीने के महीने सरकारी तनखा पाती है, बस इतना ही!"

इस शांत, शील औरत के मन में अपनी सौत के प्रति कितना गुस्सा था वह उसके एक-एक शब्दों से टपक रहा था। सौत की तनखा के आगे आज उसका रूप, यौवन सब हार गया था। उसका पति हाथ से निकल गया था। उसके कुछेक वाक्यों से मैं उसकी जीवन-कहानी गढ़

रहा था।

"सौत कहाँ काम करती है?"

"बरगड़ के अस्पताल में।"

"पति के छोड़ने के बाद मायके क्यों नहीं चली गई। अपने माँ-बाप के पास।"

"मुझे घर में घुसने कहाँ देंगे? चमार लड़के के साथ भागकर शादी जो की थी मैंने।"

"कब?" न चाहने के बावजूद मैं यह प्रश्न पूछ बैठा।

"बहुत दिन हो गए। दो साल के बाद तो मेरी बड़ी बेटी शादी के लायक हो जाएगी।"

"बच्चे कितने हैं?"

"चार। ऊपर के तीनों उनके पिता के साथ रहते हैं। बेटियाँ हैं ना। बस यह छोटू मेरे पास रहता है।"

"बीच-बीच में जाती हो उनके पास?"

"हाँ, बेटियों को देखने।"

"पति के साथ मुलाकात होती है?"

"धत्, मैं कैसे मिलती? मेरी सौत के सामने उसने मुझे घूसा जो मारा था। सौत ने उसके लिए एक अँगूठी खरीद दी है। वह अँगूठी लगी मेरे सिर पर। आज तक सिर दुखता है मेरा।" अनायास ही उसके दाहिने हाथ ने सहला दिया सिर की चोट को।

बच्चा खेल छोड़कर माँ की गोद में बैठ गया था। मेरे साथ बात न करने के लिए वह अपनी मां को कई बार ताकीद कर चुका था। "मरदों के साथ ये कभी बात करने ही नहीं देता।" बच्चे की मानसिकता को समझा रही थी मुझे। साथ ही, छोटी उमर से इस बच्चे ने उसकी सुरक्षा का जिम्मा उठा रखा था इससे औरत खुश थी। इधर बुढ़िया बुद्धप्रतिमा सी बैठी हुई थी। छोटे बच्चे की भाँति वह न तो उस औरत को बात करने से रोक रही थी और न ही प्रोत्साहित। हाँ, बीच-बीच में हमारी बातचीत के साथ मेल न खानेवाली टिप्पणी जरूर कर रही थी। मसलन -- 'आज रात तेरे बेटे के लिए अपने यहाँ से मांस-तरकारी लाऊँगी।' या फिर 'इसे उसके बाप के पास क्यों नहीं छोड़ देती। और कुछ नहीं तो कम से कम पेट भर खाएगा बेचारा।' उसकी बातों से स्पष्ट था कि बुढ़िया इस औरत

के बारे में सब कुछ पहले से जानती थी।

वार्ड में लौटकर मैंने तनु को सारी बातें बताईं। बेड में पड़े-पड़े थक गई होगी बेचारी। शायद औरत की कहानी सुनकर उसका कुछ मन बहले। कभी-कभार बेड से उठकर तनु इधर-उधर घूमने भी लगी थी। मुझे इन औरतों के साथ बातचीत करते देख वह कुछ गलत न समझ बैठी हो, उसे इनकी कहानी सुनाने का मेरा इतना ही मकसद था। हमारे जैसे लोगों की दुनिया में ऐसी बुढ़िया व औरतों की इससे ज्यादा और क्या दखलअंदाजी हो सकती है। बुढ़िया अस्पताल के बरामदे में घर बना चुकी है। सुन तो नहीं सकती। किसी की धमक-चमक में आनेवाली भी नहीं। औरत भरी जवानी में अकेली रह रही है। बेटे की खातिर वह संघर्ष कर रही है सुननेवाला अगर खुद को संवेदनशील बताना चाहेगा तो कहेगा– 'ओहो.. चच्...चच्।'

दूसरे दिन मौसम ठीक था। मद्यप की अनुपस्थिति में भी गाएँ अभी तक बरामदे में घुसी नहीं थीं। बस न पकड़ पानेवाले यात्री की भाँति जिनके पास कोई विकल्प ही नहीं बचता, वे यहाँ आ जाती हैं वरना होटल के पीछे पड़े जूठे भात-दाल या रास्ते में पड़े फटे कपड़ों को चबाने से उन्हें फुरसत कहाँ। स्वास्थ्य में सुधार होने के कारण रिक्शावाले को अपनी पत्नी को घर ले जाने की अनुमति मिल चुकी थी। अपने रिक्शे में उसने अपनी पत्नी को बिठा लिया था। उसके स्थान पर जो नई बीमार बुढ़िया आई थी वह लगातार बतिया रही थी मानो उसे बात करने की बीमारी हो। वह कहे जा रही थी बेटा-बहू, पोता-पोती सब उसकी इज्जत करते हैं और उसके ऑपरेशन में चाहे जितना भी खून लगे उसे कोई दिक्कत नहीं। बुढ़िया का अपना कोई शुश्रूषाकारी न होने की स्थिति में वार्ड के सभी शुश्रूषाकारियों को तथा ठीक होते आ रहे मरीजों को ये सब बातें सुननी पड़ रही थीं।

आज मेरा मूड ठीक न था। कल अस्पताल छोड़ना था। परंतु डॉक्टर का कहना था कि और तीन दिन रहना पड़ेगा। कल घर चले जाएँगे सोचकर मैंने तनु के भाई के हाथ कई चीजें भिजवा दी थीं। उन्हें फिर से मँगवाना पड़ेगा। उधर ऑफिस से छुट्टी नहीं। सबेरे दूध गरम करते वक्त चाय के दुकानदार से झड़प हो चुकी थी। और तीन दिन रहना न पड़ता तो ऐसी छोटी-मोटी झड़प का कोई अर्थ न था। कल कहीं और दूध

गरम करना पड़ेगा। इधर तनु ने न तो ब्रश किया था, न दवा ली थी। अब इन बातों को दोहराना आसान लग रहा है, वरना उस समय तो लगता था कि जीवन दुखमय है।

ठीक इसी समय खिड़की की उस तरफ से उस औरत ने मुझे बुलाया। मैं और बिगड़ गया। लोग देखेंगे तो क्या सोचेंगे? फिर भी उसके पास गया। रोनी सूरत बनाकर उसने कहा, "बरगड़ की एक औरत ने बताया कि शराब पीकर बड़ी बेटी को उसके बाप ने खूब मारा है। पहले कभी-कभार पीता था। आजकल सौत उसे पूछती नहीं, इसीलिए रोज पी रहा है। लड़की है, हाथ-पैर टूट जाएँगे तो शादी कैसे करवाऊँगी उसकी।" पर ये सब मुझे बताने की जरूरत क्या है? यह पूछने को मन हो रहा था मेरा। नहीं तो ये मेरा पीछा नहीं छोड़ेगी। मुझसे अपने प्रश्नों के उत्तर की अपेक्षा किए बगैर रो-रोकर वह बतियाती जा रही थी। मेरे चिड़चिड़ेपन से बिलकुल बेखबर थी वह। यह सच है कि मेरा चिड़चिड़ापन और उसके वर्णन का वेग समानुपात में समानांतर रूप से चल रहे थे।

शायद मुझसे अब तक की बातचीत और पहचान की कीमत वसूलना चाहती थी वह। बेटी को अस्पताल में भर्ती करना पड़ेगा। दवाई के लिए पैसे चाहिए। उसके लंबे कथन का यही सार होगा। मुझे पूरा यकीन था। ये लोग ऐसे ही होते हैं। परंतु सीधे-सीधे क्यों नहीं कह देती? इतने लोगों की भीड़ में रहकर, अपने कामकाज छोड़कर किसे फुरसत है इतनी बातें सुनने की?

मैंने पूछा, "क्या चाहिए?"

और मन ही मन सोचने लगा– तेरी दुखभरी कहानी का जब फायदा लिया है, तो उसकी कीमत देने में क्यों हिचकिचाऊँगा? मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया उसने। फिर पूछा, "बरगड़ जाओगी, बेटी को देखने के लिए? बस भाड़े की जरूरत है?" बस भाड़े और दवाई के पैसे की दृष्टि से पहलावाला ही सस्ता था। इसलिए जानबूझकर दवाई की बात नहीं की मैंने। ये सवाल पूछने के पीछे मेरा दूसरा उद्देश्य था उसके भाषण को छोटा करना।

"नहीं, बस भाड़ा है मेरे पास।" उसने कहा।

"फिर भी रख लो कुछ।" मानो मोल चुकाने के लिए मैं वचनबद्ध हूँ।

"नहीं... नहीं, है मेरे पास" कहकर वह चली गई। ज्यादा कुछ

कहने का अवसर मुझे नहीं मिला। और कहने के लिए इससे ज्यादा कुछ था भी नहीं मेरे पास। मेरी सहानुभूति के शब्द सुनने के बदले बस पकड़ने की बेचैनी ज्यादा थी उसके मन में, साथ ही अपना दुखड़ा किसी को सुना सकने की आत्मसंतुष्टि भी उसके चेहरे पर झलक रही थी। अस्पताल में रहते उसके साथ और मुलाकात नहीं हो पाई थी। सौत के घर पहुँचने के बाद उसकी बड़ी बेटी की हालत ठीक थी या नहीं, या फिर उसकी अन्य बेटियाँ भी अपने मद्यप बाप से मार खाकर अपना हाथ-पैर तुड़वा चुकी थीं, मुझे कुछ खबर नहीं है। कुछ पता चला होता तो वे सब कहानी की श्रीवृद्धि में जरूर मददगार साबित होतीं। परंतु बुढ़िया, औरत जैसे इनसानों की जिंदगी की कहानी को कुछ पैसे में तौलने, मन बहलाने का साधन मात्र मानने और कहानी के प्लॉट में उन्हें जबरन घुसेड़ देने के अपराध ने मुझे इतना झकझोर दिया कि उनके बारे में सोचना ही छोड़ दिया मैंने। मेरे पैसे न स्वीकारने का जो तमाचा वह मेरे गाल पर मार गई थी, उसकी आवाज कई दिनों तक मेरे कानों में गूँजती रही।

कलक्टर की दोस्ती

जूते उतारते हुए रसोई की तरफ मुँह घुमाकर रमेशबाबू बोले, "सुनती हो।"

"कुछ कहा ही नहीं तो सुनूँगी क्या?" रुक्मिणी देवी ने कप में चाय उड़ेलते हुए जवाब दिया। कुछ कहने से पहले 'सुनती हो' कहना जैसे रमेशबाबू का तकिया कलाम है, वैसे ही रुक्मिणी देवी का पूरी बात सुनने से पहले तुरंत जवाब सुना देना भी। दोनों में से कोई अपनी आदत छोड़ने को तैयार नहीं।

"छिः! हमेशा पान चबाते रहते हो, जाओ, मुँह धोकर आओ।" रुक्मीणी देवी ने चाय का कप रमेशबाबू को थमाते हुए कहा। बेचारे रमेशबाबू चाय मुँह लगाने से पहले एक मग पानी लेकर गुसलखाने में घुसे। "जानती हो आज से तुम अपना अलग बिस्तर लगाया करो। तुम्हारे सिर में इतनी जुएँ बढ़ गई हैं कि वे मेरी ओर आने लगी हैं।" रमेशबाबू के स्वर में आक्रामक होने की चेष्टा थी।

"हाँ, तो तुम क्या बोल रहे थे?" चाय की एक चुस्की लेकर रुक्मिणी देवी ने चाय के कप को सोफासेट की बाईं तरफ रखते हुए पूछा।

–तुम तो मुझे बोर कर रही हो!

–अगर कहना है तो कहो। नहीं तो मैं चली। मुझे बरतन भी धोने हैं।

–कल नीलू हमारे घर खाने पर आ रहे हैं। रमेश बाबू ने सीधे-सीधे बताया।

–नीलू-फीलू किसी को मैं अपने घर में खिला नहीं सकती।

–ठीक है, मैं उसे होटल में ही खिला दूँगा।

–अकेले आएँगे या उनकी पत्नी भी?

–शायद अकेले।

–लंच या डिनर?

–अरे नहीं, शाम के नाश्ते पर आएँगे।

–ठीक है, बड़ी दया रही है तुम पर। खिला दूँगी।

–इसमें दया की क्या बात है? मेरे हक की कमाई है?

–हाय रे मेरे हक की कमाई! जैसे मैं तुम्हारी नौकरानी लगी हुई हूँ ना?

–और नहीं तो क्या? रमेशबाबू मंद-मंद मुस्कुरा रहे थे।

–तो ठीक है कल यही साड़ी पहनकर उनको खाना परोसने आऊँगी।

–तो मैं भी बोल दूँगा, मेरी नौकरानी है।

–बच्चों को सिखा दूँगी कि जोर जोर से माँ-माँ बुलाएँ।

–इसी बीच रमेशबाबू की चाय खत्म हो गई थी। अंतिम चुस्की से मुँह के अंदर घुसी हुई चाय की पत्ती को थू-थू कर निकालते हुए बोले, "तुम्हें कितनी बार कहा है चाय में पत्ती ज्यादा और चीनी कम देना।"

"प्लीज और एक कप चाय बना दो। यही तो?" रुक्मिणी देवी ने अपने पति के मुँह की बात छीनते हुए कहा। रमेशबाबू ने सिर हिलाते हुए हामी भरी।

"नहीं, नहीं चीनी नहीं है। अगर पीना है तो मेरे कप से थोड़ा सा ले सकते हो। रुक्मिणी देवी के कप से अपने कप में थोड़ी सी चाय उड़ेलते हुए रमेशबाबू धीरे-धीरे बोल रहे थे, "छिः छिः पतिदेव को जूठन।"

–धर्मपत्नी भी तो जूठन खाती है!

"नीलू शाम को क्या खाता था पता है?" अब रमेशबाबू फिर से अपने प्वायंट पर लौट आए। रुक्मिणी देवी हाँ या ना कुछ भी नहीं बोली। लेकिन सुनने का आग्रह उनकी अंग-भंगिमा से साफ झलक रहा था। रमेशबाबू ने कहा, "चार साल तक शाम को हम दोनों कॉलेज के गेट के सामने ईश्वर की दुकान से चाट खाते रहे।"

–तो ठीक है। चाट में से 'ट' निकालकर केवल चाय देंगे हम।

–अरे, आई. ए. एस होने के बाद साला क्या चाट ही खाता होगा?

–ढोसा, मसाला, पेड़ा, कोल्ड कॉफी, बर्फी...।

–बस, बस, रुको भी। तुम्हारे मुँह से लार टपकने लगी है। रमेशबाबू को बीच में ही टोकते हुए रुक्मिणी देवी ने कहा।

–तुम्हारे गाल से क्या ये सारी चीजें ज्यादा मीठी हैं जो नाम लेते ही मेरी लार टपकेंगी? टपकने से पहले लार को निगलते हुए रमेशबाबू ने कहा।

"छिः क्या बच्चों सी हरकत कर रहे हो! छोड़ो-छोड़ो। बच्चे आ रहे होंगे।" रुक्मिणी देवी ने दबी जुबान से कहा।

चालीस साल की उमर में बच्चा संबोधन सुनकर रमेशबाबू एक बार अपनी मूँछों पर हाथ फिराकर मुस्कुराने लगे। और तीन बच्चों की माँ रुक्मिणी देवी शीशेवाले बड़े साइज के श्रीमा के फोटो फ्रेम में एक बार अपना प्रतिबिंब देख अपनी साड़ी सँभालते हुए रसोई में चली गईं। शादी के बारह साल बाद भी पति का उनके प्रति इतना प्रेम देखकर मन ही मन खुश हो रही थीं रुक्मिणी देवी।

आज नीलूबाबू आएँगे। जिला कलक्टर नीलांबर पाणिग्रही। आधी रात से रुक्मिणी देवी की आँखों से नींद गायब है। आँखें मूँदकर अँधेरे में भी नीलूबाबू को देखने की चेष्टा कर रही थी वह।

बहुत दिनों की बात है। रमेशबाबू ने एक पेपर कटिंग दिखाकर कहा था, "सुनती हो मेरा एक क्लासमेट आज आई.ए.एस. बन गया है। कॉलेज में चार सालों तक हम होस्टल के एक कमरे में रहे हैं। क्लास नोट से लेकर कॉलेज की लड़कियों के बारे में चर्चा तक हमने शेयर की हैं।"

उस दिन रमेशबाबू के सामने रुक्मिणी देवी ने अपनी खुशी को छुपाने का अभिनय जरूर किया था। पर कुछ दिनों तक कॉलोनी में घूम-घूमकर ये खबर सबको सुनाती रही। उपाध्यायबाबू की पत्नी सुनकर बोलीं, उनका भाई भी एक बार प्रिलिम पास किया था। राम मिश्र की बीवी बोली, उनका देवर इस बार बैंक पी.ओ. दे रहा है। मोहिनी देवी ने अपना मत रखते हुए कहा, "कोई कुछ भी बन जाए, हमें उससे क्या? हम तो जो तीन सौ रुपए बेसिकवाले थे वही रहेंगे।" इस घटना के छह सालों के बाद एक बार आँधी की तरह आकर रमेशबाबू ने खबर दी, "सुनती हो, तबादले पर नीलू कलेक्टर बनकर यहाँ आ रहा है।"

पहले की खबर से यह खबर कुछ ज्यादा ही रंग लाई। एस.डी.ओ. ऑफिस के हेडक्लर्क पतिबाबू और उनकी पत्नी उस दिन शाम को उनके घर आए और इन लोगों को भी अपने घर निमंत्रित कर गए। नित्यानंदबाबू भी इस बीच दो-तीन बार कॉलोनी में एक सहकारी दुकान खोलने की बात रमेशबाबू से कर चुके थे। जय दुर्गा क्लब के पंजीकरण की बात

दलगेजनबाबू ने रमेशबाबू से कह रखी थी। जवाब में रमेशबाबू ने भी अपनी औकात जताते हुए कहा था, "चिंता मत कीजिए। सब हो जाएगा।"

सचमुच नीलूबाबू कलक्टर बनकर आ गए। पहले दिन ही रमेशबाबू उनसे मिलने कलेक्टर ऑफिस चले गए। पर 'और सब ठीक है' इतना पूछ नीलूबाबू बड़े-बड़े अफसरों के साथ बात करने लगे। उस दिन रमेशबाबू को बहुत बुरा लगा। उसके बाद एक-आध बार और मिलने गए उनसे। पर हाल जैसे का वैसा ही।

उसके बाद बहुत बार मिलना हुआ रास्ते में। नीलूबाबू कार पर और रमेशबाबू साइकिल पर। नीलूबाबू मेमसाहब को साथ ले निकले होंगे और रमेशबाबू रुक्मिणी देवी को, तो नीलूबाबू दूसरी तरफ मुँह घुमाकर और रमेशबाबू साइकिल की रीम या पैडल को देखने के बहाने एक-दूसरे को न देखने का अभिनय करते रहे। एक ही शहर में रहते हुए भी नीलूबाबू जैसे अचानक आए थे रमेशबाबू के संसार से वैसे निकल भी गए।

आजकल बातों-बातों में रमेशबाबू, कलक्टर उनके सहपाठी हैं ये नहीं कहते हैं। वरन् बात चलने पर रुक्मिणी देवी से ये जरूर कहते हैं, "अगर मेरा ऑनर्स का नोट न लिया होता तो क्या उसे बी.ए. में फर्स्ट क्लास मिलता? अगर मैं नहीं होता तो क्या वह मलेरिया से उठकर इंटर की परीक्षा दे सकता था?" अखबार में अगर कुछ भी कलक्टर के बारे में निकलता तो कहते, "साला इस बार तो जरूर फँसेगा।" रुक्मिणी देवी भी कभी-कभी कॉलोनी में बोलती हैं, "सुना है, ये कलक्टर तो बड़ा घूसखोर है।"

कल लेकिन एक नई घटना घटी। जिला कर्मचारी संघ का वार्षिक उत्सव था। मुख्य अतिथि थे जिला कलक्टर नीलूबाबू। रमेशबाबू को देखकर उन्होंने गले लगा लिया। संघ के सभापति से कहा, "जानते हैं, मैं और रमेश एक क्लास में पढ़ते थे।" फिर रमेशबाबू से कहा, "अरे, तूने तो कभी मुझे भाभीजी से मिलाया ही नहीं। एक दिन खाने पे बुला।" बीती बातें भूलकर रमेशबाबू तुरंत बोले, "कल आ जाओ।"

–अरे उठो! कितनी देर तक सोते रहोगे? रेडियो पर उड़िया संवाद भी आने लगा है। खरिआर रोडवाली बस के आने का समय हो चुका है। रुक्मिणी देवी रमेशबाबू को आगाह करते हुए बोलीं।

–नीलू के लिए नाश्ते का क्या इंतजाम कर रही हो? रमेशबाबू भी बहुत देर से शायद जाग रहे थे, रुक्मिणी देवी की तरह!

–गुलाबजामुन, लूची, सब्जी, पापड़ और चाय कैसी रहेगी?

–अमूल स्प्रे है क्या?

–है तो नहीं।

–तो गुलाबजामुन कैसे बनाओगी? थोड़ी देर की चुप्पी के बाद रमेशबाबू ने कहा, "छोड़ो जी। इतनी फॉरमेलिटी क्यों? मेरा सहपाठी ही तो है! मीठा छोड़ो! लूची, सब्जी, पापड़ और चाय बनाओ।"

रुक्मिणी देवी के मौन रहने पर रमेशबाबू ने यह सोचा कि उनका प्रस्ताव पास हो गया।

–सुनती हो, उपाध्यायबाबू के घर से कुछ स्टील के कप माँग के ले आना। अब चीनी मिट्टी के कप का जमाना नहीं रहा। कप को सर्फ से साफ जरूर कर लेना। उपाध्याय की पत्नी तो जो साफ करती होगी...

–बाजार से थोड़ा सर्फ ले आना। समय क्या हुआ है...

–चार सौ ग्राम सर्फ पंद्रह दिनों में खत्म हो गया?

–मैं क्या खा गई। पहले से ज्यादा तीखे स्वर में रुक्मिणी देवी ने कहा।

–सामनेवाले कमरे को थोड़ा सा धो देना। रमेशबाबू ने कहा। पत्नी ने कहा, "इस कमरे को भी धोना पड़ेगा। अगर दोस्त समझकर इस कमरे में आ गए तो! अरे, उठो न पानी बंद हो जाएगा।" फिर से रुक्मिणी देवी ने जोर से रमेशबाबू को हिलाते हुए कहा।

–तुम क्यों नहीं उठती।

बच्चों को पिछली रात की बासी रोटी और लाई देकर रुक्मिणी देवी सामने के कमरे को धोने में लग गईं। रमेशबाबू दाढ़ी बनाकर बाजार चले गए। बड़ी बेटी पिंकी ने पूछा, "माँ नीलूबाबू कब आएँगे?" बेटे अबीर ने पूछा, "माँ, नीलूबाबू पेड़े लाएँगे या केले?" रुक्मिणी देवी ने जब कुछ नहीं कहा, तो पिंकी बोली, "केले तो माँ के बुड्ढे चाचा लाते हैं, वे भी सड़े हुए। नीलूबाबू तो पेड़े लाएँगे, पेड़े।" रुक्मिणी देवी टेबलक्लॉथ को पलटते हुए गुस्से से बोलीं, "कुछ नहीं लाएँगे।" छोटी बेटी जो अब तक चुप थी यह सुनकर बोली, "नीलूबाबू कुछ नहीं लाएँगे, जाते वक्त सबके हाथों में पैसे देकर जाएँगे, है न माँ?"

रुक्मिणी देवी पहले से ज्यादा गुस्से में आकर बोलीं, "मुझे काम करने दोगे या नहीं?" बच्चे एक-एक कर बाहर भाग गए।

शादी के बाद रमेशबाबू के साथ खींचे गए कैबिनेट साइज के काँच के फ्रेमवाले फोटो को तीन बार पोंछ-पाँछकर, कभी बाएँ तो कभी दाहिने तरफ से फोटो को देख उसे दीवार पर यथास्थान टाँग दिया। अपना बक्सा खोल ये साड़ी पहने या वह तय न कर पाकर अंततः एक संबलपुरी साड़ी पहनने का निश्चय किया।

शाम को चार बजे सारे नाश्ते को तैयार कर रुक्मिणी देवी, मन ही मन कहने लगीं, "किसी का भी हम थोड़े ही अनादर करते हैं? उनके ऑफिस के टाइपिस्ट परमानंदबाबू पर थोड़ी सी चिढ़ होती है। हाँ, यह सही है कि उनके घर में एक दरजन बच्चे हैं, लेकिन उसमें हम क्या कर सकते हैं? समय-असमय एक कप चाय के लिए बुड्ढा पहुँच जाता है।"

रुक्मिणी देवी ने नाश्ते को सजाकर उस पर एक पुराने अखबार को ढक दिया। बच्चे सब देख रहे थे, लेकिन चुप थे। सेंवई या हलवा होता तो कबसे कढ़ाई को चम्मच से कुरेदना शुरू कर दिया होता।

बाहर मोटर आने की आवाज सुनाई दी। रमेशबाबू ने झट से खिड़की खोली, रुक्मिणी देवी ने भी अपने कमरे की। शायद दूसरा कोई है। रमेशबाबू ने अपना पूरा जोर लगाकर थूक फेंका, जैसे कि थूक फेंकने के लिए ही उन्होंने खिड़की खोली थी। रुक्मिणी देवी ने कहा, "आज दूधवाले की गाड़ी नहीं आई शायद!" पिंकी ने कहा, "मैं तो यह सोच रही थी कि शायद नीलूबाबू आ गए।"

शाम के पाँच बज गए। साढ़े पाँच भी बजा। धीरे-धीरे छः भी बज गया। इस बीच अनेक बार बाहर देख हताश होने के बाद दोनों ने अपने-अपने कमरे की खिड़की बंद कर ली।

बाहर किसी ने दरवाजा खटखटाया। रुक्मिणी देवी सतर्क हो गईं। बच्चे अपने-अपने होंठों पे उँगली रख एक-दूसरे को चुप कर रहे थे। रुक्मिणी देवी अचानक तेजी से नाश्ते की प्लेट पकड़कर उठीं, आखिरी बार अपनी साड़ी पर एक नजर दौड़ाई। उनका पैर काँप रहा था। नमस्कार बोलें या प्रणाम? प्लेट रखकर वहाँ खड़ी होंगी या चली आएँगी? ये तो हर बात पर परेशान करते हैं, पहले से बता दिया होता तो क्या बिगड़ जाता?

इस बीच रुक्मिणी देवी हाथों में नाश्ते की प्लेट पकड़कर सामनेवाले कमरे में पहुँच गईं थीं। प्लेट को टेबल पर रख नमस्कार करने के लिए जैसे ही सिर ऊपर किया तो देखती हैं सामने परमानंदबाबू, रमेशबाबू की आफिस के टाइपिस्ट।

परमानंदबाबू आधी लूची को मुँह में डालकर, दूसरे टुकड़े को सब्जी में डुबोते हुए बोले, "महीने में एक-आध बार ऐसा अच्छा नाश्ता तो जरूर होना चाहिए, क्यों क्या बोलते हैं रमेशबाबू?"

पेनशन का कागज

गजरी तालाब से लौटते वक्त भोला ने लुचन अंधे से पूछा, "लुचन, लड़की मिलती तो तू क्या अभी शादी कर लेता?"

"और क्या छोड़ता?" लुचन बोला।

"उस दिन कैसे मना कर रहा था?"

"कब? किस दिन?"

"भागवत गुड़ी (मंदिर जैसा स्थान, जहाँ नित्य भागवत पाठ हो) में रवि और माधव सब तुझसे पूछ नहीं रहे थे?"

"मजाक उड़ाने के लिए पूछेंगे तो क्या मैं हाँ कहूँगा? दूसरे दिन पूरे गाँव में हल्ला हो जाता। मैं तो शर्म के मारे सड़क पर चल भी नहीं पाता।"

पूरी बात को समझने के अंदाज में भोला बोला, "तू ठीक बोलता है यार, तेरे जाने के बाद माधव कहता है, साला अंधा, हमारे सामने मना कर रहा है, अगर छोरी मिलती तो क्या छोड़ता?"

"मैं सब जानता हूँ। मेरा मजाक उड़ाने के लिए साले मुझसे ऐसी बात पूछते हैं।" लुचन भोला पर थोड़ा सा नाराज हुआ। जो जैसा गाली गलौज करता है, उसे हूबहू वैसा ही वह बोल देता है। थोड़ा सुधार के भी तो बोल सकता था। ऐसा करने से दुख बढ़ता है, फायदा कुछ नहीं होता। अगर ऐसी जली-कटी बातें उसके खुद के लिए नहीं कही गई होतीं तो लुचन शायद भोला को समझा भी देता। भोला के पास इतनी गहराई में जाने का वक्त ही कहाँ है?

"अच्छा ये बता? कैसी लड़की से तू शादी करता?" भोला ने सीधे-सीधे कुरेदा।

थोड़ा चौकन्ना हो लुचन बोला, "साला, तू भी माधव और रवि की तरह मजाक तो उड़ा नहीं रहा।"

भोला बोला, "आज तक मैंने कभी तेरा मजाक उड़ाया है? यहाँ सुननेवाला कोई नहीं है इसलिए पूछ रहा हूँ।"

"आसपास कोई नहीं है तू अच्छे से देख!" लुचन थोड़ा नरम होकर बोला। जो एक-आध दोस्त हैं उनके साथ अगर मनमुटाव होगा तो कैसे काम चलेगा? आसपास कोई नहीं है यह निश्चित होने के बाद उसने कहा, "सुन भोला, मेरे लिए क्या गोरी क्या काली, क्या सुंदर और क्या असुंदर? सब मेरे लिए एक जैसे हैं। अच्छे आचार-विचार की लड़की हो, मेरा मन ले सके, जिसको दिखाई ही न दे (अंधा बोलना हो तो उसे लुचन ऐसे ही बोलता है) उससे शादी करने का दुख न हो- उससे ज्यादा और क्या चाहिए?" अपना दिल खोलकर रखने के बाद वह फिर सतर्क हो गया। साला भोला शराबी है। एक घूंट नीचे गई नहीं कि होश खो बैठेगा। कहीं किसी से बोल न दे ये बात। उसकी चाबी भी अपने हाथ में रहनी चाहिए। इसलिए पूछा, "अच्छा भोला, तू बता, तुझे कैसी लड़की चाहिए?" इतना अगर उसे पता चल गया तो वह भी शराबी भोला की पोल खोल सकता है।

लेकिन भोला को इन बातों का ध्यान कहाँ? जैसे खुले दिल से उसने पूछा था, वैसे ही दिल खोलकर उसने जवाब भी दिया, "तुम जैसे अंधे-कुबड़ों की भी शादी के बाजार में माँग है। पर हम जैसे शराबियों को कौन पूछता है? हर जगह छिः छिः। कौन देगा लड़की हमें?"

लुचन ने देखा, भोला बातों को छुपा नहीं रहा। पर इसके बावजूद उससे अगर अभी बात नहीं उगलवाएगा, कल का क्या भरोसा? पूछा, "फिर भी मन जैसी कोई चीज तुम्हारी भी तो है न?"

भोला ने जवाब दिया, "मन भला किसके पास नहीं होता? पान के पत्ते जैसा मुँह। काले लंबे बाल कमर तक लटक रहे हों। काली हो या गोरी, जो भी हो चलेगा। हाँ, और एक बात, पीते समय गाली न बकती हो।"

भोला के मन की बात जान लेने के बाद लुचन खुश हो मजाकिए ढंग से बोला, "भोला, तू एक काम कर। तू अपने लिए ऐसी छोरी ढूँढ़ जिसके शरीर का रंग काला और बाल सफेद हों।" सुनकर भोला जितना हँसा, उससे ज्यादा जोर से हँसने लगा लुचन, खुद अपनी ही बातों पर, यही सोचकर कि उसने बड़ी मजेदार बात कही।

लड़कियों की बात खत्म होते ही भोला ने पैसों की बात शुरू कर

दी। अंधे, कुबड़े, लँगड़े लोगों के पास भी अगर पैसा है तो समाज में उनका वजन है। ऐसी फालतू बातों को टालने के लिए लुचन चुप ही रहा। हर बात में अंधा, कुबड़ा, लँगड़ा आदि शब्द उसे बेमतलब, अनावश्यक प्रतीत होते हैं। फिर कौन सी नई बात कह रहा था भोला? उसकी बातें हमेशा से ऐसी ही हैं। उसकी आधी से ज्यादा बातों में कोई वजन नहीं होता। बच्चों सी बातें करता है वह। बचपन से ही माँ नहीं है न! लुचन को कारण मिल जाता है। तब खुद के पास माँ होने का एहसास उसे भोला की आँखों से भी ज्यादा अजीज लगता है। भोला पर उसे दया आती है। इसीलिए तो एक दूसरे पर जान छिड़कते हैं। दोनों चाहे नशे में हों या न हों! कभी लुचन उसके साथ एक घूँट शराब पी लेता है तो कभी शराबी भोला को अपनी पीठ पर लाद घर ले आता है। फिर जब नशे में नहीं होते तो, दोनों आधी-आधी रात तक पोखर के छोर पर बैठ गुड़ाखु (एक नशीला दंतमंजन) से दाँत माँजते हैं। बस अपनी आँखें नहीं हैं न इसलिए लुचन किसी आँखोंवालों पर यकीन नहीं करता, नहीं तो भोला बहुत अच्छा है। लुचन के चुप रहने के बावजूद भी भोला अपनी वजनहीन बातों का अनुमान नहीं लगा पाया। लुचन को अपनी बातों की तरफ आकृष्ट करने के लिए फिर उसने कहा, "लुचन, तू इस बार एक लाटरी का टिकट खरीद।"

"क्या होगा उससे?" लुचन ने बड़े ही गंभीर भाव से पूछा।

"धूसरबाहल के उस लँगड़े को तूने देखा है न, जो सीता चोरी (हरण) का गाना गाकर भीख माँगता है। एकदम बेसुरा। पिछले दिनों लाटरी में उसे एक मोटरसाइकल मिली है।"

"तो मुझे एक टी.वी. मिलेगा।" लुचन बोला।

"अरे टी.वी. मिले या रेडिओ, पर कुछ तो मिलेगा!" लुचन के मजाक को न समझते हुए बड़े ही सरल भाव से भोला ने कहा।

अपनी बातों को स्पष्ट करते हुए लुचन ने कहा, "अरे, बुद्धू, लँगड़े के पास मोटरसाइकिल, अंधे के पास टी.वी. और बहरे के पास रेडियो हो या न हो क्या फर्क पड़ता है?" सारी बातों को समझकर भोला जोर-जोर से हँसने लगा, लेकिन लुचन एकदम चुप था।

अब तक दोनों गाँव के अंदर पहुँच गए थे। अपने घर की तरफ मुड़ते हुए भोला ने पूछा, "घर तक छोड़ आऊँ, या खुद जाएगा?" लुचन ने मना करते हुए कहा, "मैं पोखर की तरफ से अकेले भी जा सकता था। तू ही

मेरे साथ आया था।" दिन में दस बार ऐसी ही बातें करता है लुचन। उसको किसी की मदद की जरूरत नहीं है।

ऐसी बातों से भोला कभी-कभी चिढ़ जाता है। साला अंधा रोज एक बार अकड़कर बात करेगा जरूर। फिर बाद में पछताते हुए सोचता है, उससे पूछने की भी क्या जरूरत थी? वह दिखावे के लिए नहीं बोल रहा था, यह स्पष्ट करते हुए उसने कहा, "अँधेरी रात है, इसलिए बोल रहा था।" लुचन फिर बिगड़ते हुए बोला, "हाय रे मेरी अंधेरी रात!" भोला फिर अपनी गलती को समझ गया। लुचन के लिए अँधेरी या चाँदनी रात में क्या अंतर है? दोनों ही एक समान। फिर मुँह से कहीं इधर-उधर कुछ न निकल जाए, इसी डर से वह चुपचाप अपने घर की तरफ निकल गया। लुचन भी अपने घर को चला।

लुचन के घर पहुँचने तक उसकी बूढ़ी माँ दरवाजे को सटाकर सो गई थी। दरवाजे को धीरे से खिसकाकर लुचन अंदर घुसा। दरवाजे के खिसकने की आवाज से माँ की नींद टूट गई। चिल्लाते हुए बोली, "इतनी देर तक कहाँ मर रहा था रे रई (एक गाली, जिसका अर्थ भूत-प्रेत खा जाए)? पहले खा लेता फिर जहाँ जी चाहे मरता? मुझे जलाने के लिए ही तेरा जनम हुआ है क्या?"

लुचन ने पलटकर जवाब दिया, "किसने कहा था तुझे इंतजार करने के लिए? मैं तो खाकर आया हूँ।"

"किस बाप ने तुझे खाने को दे दिया जरा मैं भी तो सुनूँ?" बुड्ढी और गुस्से में आ गई।

बात को बदलते हुए लुचन ने कहा, "मैं आज नहीं खाऊँगा। भूख नहीं है। आज तीन बार मैदान गया हूँ।"

"सुबह से कुछ नहीं खाया। कहता है भूख नहीं। सबके हाथ-पैर जोड़कर मैं इधर-उधर से माँगकर लाती हूँ और तू कहता है नहीं खाएगा।" थोड़ी नरम हो बूढ़ी फिर बोली, "पेट गरम हो गया है न, इसीलिए दस्त लग गया होगा। थोड़ा सा पखाल खा ले।"

माँगने की बात सुन लुचन अपना गुस्सा सँभाल नहीं सका, बोला, "किसने कहा था तुझे माँगने को? एक दिन नहीं खाएँगे तो क्या मर जाएँगे?"

सचमुच बूढ़ी और सहम गई। माँगने-वाँगने की बात सुनते ही बेटा

काटने दौड़ता है। बोली, "हाँ-हाँ जो हुआ, हुआ, अब खा ले।"

लुचन बोला, "बोल दिया न, नहीं खाऊँगा, तू खा ले।"

बूढ़ी फिर गुस्से में आकर बोली, "किरहा (एक गाली) तुझे शर्म नहीं आती जो मुझे खाने को कह रहा है। मेरे नहीं खाने से क्या बिगड़ जाएगा? ले खा, मर! आधी रात हो गई है।"

"कितनी बार बोला है तुझे! दिन भर इधर-उधर काम तू करेगी, पर खाते वक्त मैं? एक बार कभी खुद को आईने में देखा है?" लुचन बोला।

"हाँ रे हाँ, खा-पीकर मोटी होने की मेरी उम्र जो बची है? गाड़सुआ (एक गाली, गड्ढे में गिरकर मरना) यम भी नहीं उठाता है? इस नरक से तो बच जाती।"

"किरहई (एक गाली) जब देखो मरने की बात करती है। सच कहता हूँ माँ, अगर तुझसे आगे नहीं मरा तो देख लेना। महरा (जहर) खाकर मर जाऊँगा तब पता चलेगा तुझे।" लुचन अब रोने की स्थिति में आ गया था।

बूढ़ी का गुस्सा भी अब सातवें आसमान पर – "ए रई, मरने-वरने की बात अगर दोबारा मुँह से निकाला तो गला न दबा दिया तेरा तो मुझे कहना। इतनी तकलीफों से तुझे पाल-पोसकर बड़ा किया, क्या महरा खाने के लिए, किरहा?"

लुचन ने उत्तर दिया, "फिर तू क्यों रोज मरने की बात करती है।"

"मैंने अगर कह भी दिया तो क्या तेरे जैसा जवान भी कहेगा?" बूढ़ी ने सफाई दी।

"अबसे तू कभी अपने मरने की बात नहीं करेगी।" लुचन बच्चों सी जिद करने लगा। बूढ़ी भी यथासंभव बातों में मिठास भर बोली, "अच्छा खा ले तुरंत।"

– तू अगर आधा खाएगी तो।

– ऐ रई, मैं खाकर आई हूँ, बड़े पुजारी के घर से।

– मेरे सर की कसम खा।

– इतनी छोटी सी बात पर मैं किसी के सर की कसम नहीं खा सकती।

– तो चल आधा खा।

एक पल में ही अपने अपने हिस्से के पखाल और थीर (माँड़) को चट कर गए दोनों। पूरे एक दिन का उपवास था। और भी क्या करते

दोनों? एक मुट्ठी भर पखाल भी दोनों के हिस्से में नहीं पड़ा था। लेकिन भूख न मिटने पर भी दोनों खुश थे। लुचन खुश था क्योंकि माँ ने खाया है। बूढ़ी खुश थी – बेटे ने खाया है। अपने-अपने बिस्तर में लेटते वक्त दोनों को भूख थी, भूख से ज्यादा थकान थी, फिर भी मन शांत था। इसलिए लग रहा था जैसे सब शांत है।

सुबह-सुबह उठ लखी बूढ़ी ने घर में झाड़ू लगाई, आँगन में गोबर पानी छिड़का, रात के बरतन माँजे। लुचन को नींद से जगाकर बोली, "सुन, मैं जा रही हूँ। छोटे साहु के यहाँ बरतन लौटाकर, बड़े पुजारी के घर को सफेदी लगाऊँगी। घर में ही रहना। दोपहर को आऊँगी। कुछ लेकर आऊँगी तो खाना। अगर मेरे लौटने में देर हुई तो तेरी चाची के यहाँ से कुछ माँगकर खा लेना। बिना खाए घर से मत निकलना।"

इधर-उधर कुछ कह-सुनकर माँ चली जाएगी, लुचन पहले यही सोच रहा था। माँ का मुँह बंद होने का नाम ही नहीं ले रहा है देख लुचन चिल्लाकर बोला, "तू जा तो यहाँ से, खुद नहीं सोएगी और दूसरों को भी सोने नहीं देगी, किरेही।"

छोटे साहु के घर का काम निपटाकर लखी बूढ़ी बड़े पुजारी के घर पहुँचती तब तक रघु की माँ नहाने चली गई थी। बहुओं ने अब तक बिस्तर नहीं छोड़ा था। लड़के अपने-अपने काम पर चले गए थे। घर खुला पड़ा था। अगर कोई कुछ ले गया तो उसे ही बोलेंगे। आजकल की बहुओं में थोड़ा रत्ती भर भी अगर धक (जिम्मेवारी) होता? घर में चीजें रहें या जाएँ, कोई फर्क नहीं पड़ता। ये सारा कसूर रघु की माँ का है। बहुओं को अपने कब्जे में नहीं रख पाई। खुद दिन रात काम करेगी, पर किसी को कुछ नहीं कहेगी। लुचन की माँ का गुस्सा बहुओं से हटकर रघु की माँ पर अटक गया। पाटपुर गाँव की बहू बनने के बाद से ही लखी बूढ़ी का पुजारी के घर में जाना-आना है। तब रघु की माँ नई-नई दुल्हन बनी थी। लुचन के पिता इस घर में गोति (खेत मजदूर) थे। इस बात को न जाने कितने साल बीत गए होंगे। लखी बूढ़ी और रघु की माँ दोनों की ही नई-नई शादी हुई थी। दोनों ही नई दुल्हन। एक-दूसरे के साथ बात करते-करते कैसे समय निकल जाता कुछ पता ही नहीं चलता। उस दिन से रघु की माँ लखी को नानी (दीदी) के अलावा कुछ नहीं बुलाती। "हो न हो मेरे सामने ही उसका संसार बसा है।" लखी मन ही मन सोचती है, मुँहजली सास

बेचारी को कितनी बंदिशों में रखती थी। आज अगर सास जिंदा होती तो रघु की माँ कब की चल बसी होती। उसके दुख भरे दिन लखी ने देखे हैं, आज सुख के दिन भी देख रही है। बहुओं के एक दरजन पोता-पोती भी हो गए हैं। लुचन अगर अंधा न होता तो आज उसकी भी बहू होती। लखी के दो चार पोते-पोती भी होते। सब अपने कर्मों का फल है। वह क्या माँ का सहारा बनेगा, उलटे जवान बेटे के लिए एक-एक वक्त के खाने का इंतजाम भी उसे ही करना पड़ता है। लुचन का बाप गाड़सुआ (एक गाली) भी कम से कम जिंदा होता? किरहा एक अंधे बेटे को मेरे गोद में देकर क्यों मर गए हो? मैं क्यों सारे दुखों को अकेले झेलूँ? अगर तुम्हारी तरह मैं भी मर गई होती तो? अपने बेटे को अगर तू नहीं सँभालेगा तो और कौन सँभालेगा, रई? लुचन के मरे हुए पिता को लखी गाली देती है। जल जाती है कि वह नहीं सुन रहा उसकी बात। फिर पछताती भी है। आहा, कबसे मर के दोबारा पैदा भी हो चुका होगा। अब उसे दोष देकर क्या लाभ? अगर जिंदा होता तो क्या अपने संसार को खुद नहीं सँभालता? नहीं है इसलिए तो सारा कुछ मुझे ही करना पड़ रहा है।

शादी के पाँच साल बाद ही लुचन का पिता जब ताड़ के पेड़ से गिरकर मर गया तो पाटपुर गाँव के ही कितने लोगों ने उसके सामने कितने ही प्रस्ताव रखे। "फिर से शादी कर ले, अंधे बेटे के भरोसे क्या ये लंबा जीवन कट सकेगा? अभी तो तू जवान है, औरत जात। पता नहीं कब क्या मुसीबत आ जाए। उसके गाँव का लबारू खुद आकर बोला कि वह उसे रखेगा। लखी भी लबारू की बात सोचने लगी थी। पर उसने कहा, अकेले आना। अगर तू लड़के को साथ लाई तो मेरे माँ-बाप राजी नहीं होंगे। तीन साल के अंधे लड़के को छोड़ वह घर करने जाती? शर्म से गड़ नहीं जाएगी? अंधा हुआ तो क्या हुआ। अपना ही तो बेटा है। बिन ब्याही माँ तक अपने बेटे को नहीं छोड़ती और मैं खुद अपने बेटे को छोड़कर दूसरा घर बसाऊँ? भाड़ में जाए घर बसाना। लखी ने साफ इनकार कर दिया। उसने एक बार जो फैसला किया, बूढ़ी हो गई पर आज तक कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। अपने फैसले पर पछताई नहीं।

अभी तक बहुओं ने बिस्तर नहीं छोड़ा है। रघु की माँ का नहाकर लौटने का वक्त भी हो गया। आज दिन में सारा काम निपट जाए तो अच्छा। काम की पगार देंगे। आज दिन भर में काम खतम हो गया तो पूरे

दो दिन की पगार मिलेगी। काम भी कितना है? दो कमरे की सफेदी करना है। कल शाम को ही कर देती। बूढ़ी हो गई है। इसलिए काम हाथ से बड़ा हो जाता है।

"ऐ बहू लोग उठो। बहुत देर हो चुकी है। कमरे में सामान भी बहुत है। कमरे की सफेदी करना है।" कह तो दिया, पर मन ही मन डर रही थी लखी। आजकल की लड़कियाँ। पलटकर जवाब दे दिया तो इज्जत कहाँ रहोगी? जब तक उनकी सास जिंदा है तब तक उसकी इज्जत है इस घर में। उसके जाने के बाद ये लोग तू-ता नहीं करेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं है?

बड़ी बहू उठी, रघु की पत्नी। उसका पति दूर शहर में नौकरी करता है। दो-चार महीनों में एक बार गाँव आता है। लुचन से एक महीना ही बड़ा है रघु। कल आया है। लखी से अभी तक भेंट ही नहीं हुई। मिलने पर लखी हर बार उसे लुचन के लिए पेनशन का कागज बना देने को कहती है। सुना है वह कागज दिखाने से सरकार अपंग-विकलांगों को हर महीने सौ-पचास रुपए देती है। अगर इतना भी मिल जाए तो उसको हीनता का शिकार होना नहीं पड़ेगा। उसके दिन सुधर जाएँगे। वह भी और कितना जिएगी? मरने से पहले लुचन की कोई व्यवस्था तो हो? मरने की बात सोचकर लखी बूढ़ी घबरा जाती है। फिर अपने आपको समझाती है, अगर भगवान ने लुचन को अंधा पैदा किया है तो उसके पेट की व्यवस्था भी तो वही करेगा। कुछ नहीं तो भीख माँगने से सेर, आधा सेर चावल मिल ही जाएगा। चावल अगर वह अपनी चाची को देगा तो क्या उसकी चाची उसे पका नहीं देगी? पर क्या वह कभी भीख माँगेगा, भले भूख से मर जाए। पूछने से बोलता है, "तेरे साथ मैं भी मर जाऊँगा माँ।" लखी बूढ़ी फिर निराश हुई। पता नहीं कब क्या हो जाए?

रघु की माँ बोली, "नानी, बहू बोलती है, सफेदी में चूना कहीं ज्यादा लग जा रहा है तो कहीं बिलकुल नहीं लग रहा।

तो फिर कहीं धब्बा जैसा लग रहा है। बहू ने जोड़ दिया।

लखी बूढ़ी का मुँह सूख गया। इस घर में कभी किसी ने उसके काम की शिकायत नहीं की। कल की छोकरी घर में आकर बड़ी-बड़ी बातें कर रही है। नसीब में यह भी लिखा है। उसके हाथों से ही अब पुरखों को पानी मिलेगा। मैं किस खेत की मूली हूँ? यथासंभव अपनी आवाज को

नरम करते हुए बोली, "यह बुरुस ही ऐसा है माँ, मैं क्या कर सकती हूँ?"

– बुरुस तो नया है। पर आप ही रंग लगाना नहीं जानती। फिर बहू बोली।

लखी बूढ़ी और सँभाल नहीं पाई। उसके सारे बदन में जैसे आग लग गई। अगर कुछ नहीं बोली तो शायद खुद ही जल जाएगी। बोली, "तेरी सास के आने से पहले मैं इस घर में काम कर रही हूँ बहू, कभी किसी ने मेरे काम को नापसंद नहीं किया। आज क्योंकि बूढ़ी हो गई, इसलिए हाथ से काम बिगड़ रहा है।"

रघु की माँ बात को सँभालते हुए बोली, "इनके काम करने की कोई उमर है बहू? न करने से काम नहीं चलेगा। इसलिए कर रही हैं। लड़का अगर काम का होता तो ठाठ से घर में बैठी पोते-पोतियों को सँभाल रही होतीं। लड़का अंधा है, इसीलिए आहा! बेचारी को यह दिन देखना पड़ रहा है।"

लुचन की माँ आज चुप थी। रघु की माँ के 'आहा' शब्द से ही वह चिढ़ जाती है। पर बहू की बातें आज उससे ज्यादा दुख दे रही थीं सो उसे पता नहीं चला। फिर बहू की बात को काटने के लिए रघु की माँ ने आहा कहा था। 'आहा' शब्द जैसे कुछ अच्छा भी लग रहा था।

बहू धीमी आवाज में बोली, "हम किसी को काम करने के लिए पैसे देते हैं या पोसने के लिए?" लखी बूढ़ी ने बहू की बात को सुनकर भी अनसुना कर दिया। गाय और गरीब को क्या नहीं सहना पड़ता है। इतनी छोटी-छोटी बातों को अगर इनसान पकड़कर बैठ जाए तो कैसे चलेगा।

कुछ समय बाद रघु घर लौटा। सुबह-सुबह उठकर अपने खेतों को देखने गया था वह। जब भी गाँव आता है अपने खेतों की तरफ अवश्य ही चला जाता है।

रघु को आते देख स्टूल के ऊपर से ही लुचन की मां बोली, "रघु, कल से तेरे आने की खबर सुनकर लुचन तेरे ही बारे में पूछ रहा है। बोलता है, माँ, दादा (बड़े भाई) के साथ मैं थोड़ी बात करता। पेनशन कागज की बात। मैं बोली, कभी चले जाना। अभी एक आध दिन तो रुकेगा। दोनों भाई मिलकर बातचीत करना। तेरा बड़ा भाई रघु क्या तेरा मदद नहीं करेगा। एक आध दिन रुकेगा तो बेटा?" एक ही साँस में सारा कुछ बोल गई बूढ़ी।

रघु बोला, “रुकूँगा बड़ी माँ पर आज तो सहला जाऊँगा। वहाँ से शाम को लौटूँगा।” वह थोड़ा भी गुस्सा नहीं कर रहा था। पेनशन का कागज न हो पाने के बावजूद पिछले कुछ सालों से बूढ़ी के कागज के बारे में रघु से पूछने के पीछे सबसे बड़ा कारण रघु का गुस्सा न होना है। दूसरा कोई होता तो कब का उसकी बातों को हँसी में उड़ा देता। बूढ़ी बोली, “अगर सहला जा रहा है तो बेटा हमारे घर हो के चले जाते। घर में लुचन होगा। बात कर लेते सहला से कागज बनाकर ले भी आते।”

बहू बातों को टालते हुए बोली, “इस बार इनके पास समय नहीं है बड़ी मां। अस्पताल का काम है। कितनी देर हो कौन जानता है?”

लुचन की माँ सतर्क हो गई। “ना रे ना, माँ, अगर समय हो तो, बोल रही थी।” रघु से बोली, “अगली बार उस कागज के बारे में पता लगाना बेटा।” इस बार न हो न सही अगली बार के लिए बूढ़ी बात पक्का करना चाहती थी।

रघु ने कहा, “हाँ, बड़ी माँ, अगली बार जरूर कर दूँगा। इस बार भी अगर समय मिला तो ऑफिस में बातचीत कर आऊँगा।”

लुचन की माँ खुशी से झूम गई। हर बार रघु ऐसा भरोसा नहीं देता। लगता है, अगली बार जब आएगा तो कागज बना ही देगा। पूछा, “फिर कब आएगा बेटा?”

– दो महीने के बाद। रघु का उत्तर।

दूसरी ओर से रघु का छः साल का बेटा बोला, “पापा जब भी आते हैं, दादी माँ बस पेनशन कागज की ही बात करती है।” बेटे की बात सुन सभी लोग हँस पड़े, बहुएँ हँसने लगीं, उनके मन की बात बच्चे ने कह दी। रघु की माँ हँसी, उसका नाती बड़ों सी बातें करना सीख गया है। रघु भी हँसा। अगर नहीं हँसी तो सिर्फ लुचन की माँ।

लखी बूढ़ी समझ गई कि लुचन की पेनशन के कागज की बात इस वक्त जच नहीं रही है। रघु से अकेले में ही पूछना अच्छा होगा। पर अकेले में मिले तो न? कोई नहीं तो बच्चे ही हर वक्त साथ रहते हैं। फिर सोचा, आज रघु ने भरोसा दिलवाया है, दोबारा बोल देगी तो अच्छा है कहीं भूल न जाए? मेरा भी क्या भरोसा। दो महीने के बाद जिंदा रहूँ या न रहूँ? अगर रघु ने चाहा तो मेरे मरने के बाद भी कागज करवा देगा। लुचन को तो शर्म ही खा जाती है। मेरे मरने के बाद 'रघु कागज बना दो' भी नहीं बोल

पाएगा। दूध पीते बच्चे ने अगर कुछ बोल दिया है तो बोले। इससे क्या किसी को बुरा लगता है? अपना सारा साहस संचय कर फिर रघु के साथ एक बार बात करने का निश्चय किया। उसका बटोरा साहस कहीं चला न जाए इस डर से बूढ़ी ने बच्चे की बात पर सबके हँसने को सुनकर भी अनसुना कर दिया। "कबसे वह रइ, तुझसे मिल चुका होता रे बेटा! पर क्या करूँ, दुनिया भर की लाज उसे खाए जा रहा है। मैं बोलती हूँ, भाभियों से क्या शर्माना? जाता वहाँ। तेरे दादाओं के साथ बैठकर बातचीत करता। उनमें से कोई भी तेरे कागज का जिम्मा ले लेता।" बूढ़ी जानती है रघु को छोड़ दूसरा कोई यह काम नहीं करेगा। पर क्या वह सच बोल पाएगी?

लखी की बात रघु की माँ ध्यान से सुन रही थी। रघु के छोटे भाई साधु, जप और हरि को भी बूढ़ी लुचन से बड़े बता रही थी। ऐसे तो रघु भी लुचन से एक महीना छोटा है। एक आध बार उस बात पर बहस होने के बाद रघु की माँ बात को मान गई थी। हाँ, अगर उसे खुशी मिलती है तो बोले। किसी की बातों से क्या मेरा बेटा बूढ़ा हो जाएगा। आज रघु के छोटे भाई साधु, जप और हरि को भी लुचन से बड़ा बोल दिया तो रघु की माँ सह नहीं पाई। बोली, "ऐ लुचन की माँ (गुस्से में आने पर दीदी के बजाए लुचन की माँ कहती) तुम्हारे लुचन से क्या उम्र में मेरा हरि भी बड़ा है? इस साल उसे पंद्रह खत्म हो सोलह चल रहा है। सहला की पढ़ाई खत्म नहीं की है।"

लुचन की माँ तुरंत मान गई। और उपाय ही क्या है।

"कभी-कभी भूल जाती हूँ बहन। कितना याद रखूँ। मरने की उम्र हो चली है।" लखी ऐसे वक्त में रघु की माँ न कहकर बहन कहती। बहन दूर जाती है तो लखी करीब आ जाती है, एक लुचन की माँ कहती है तो दूसरी बहन कहती है। ऐसा अगर न चलता होता तो दीदी-बहन का रिश्ता कब का खत्म हो गया होता। 'बूढ़ी' और 'मरने' की बात दूसरे के बोलने से लखी गुस्से से तिलमिला जाती है और उसे लगता है कि ऐसी बात कर लोग उसके बेटे का दाना-पानी मार रहे हैं, इस वक्त वह बात खुद कहकर अपने को बचाने की कोशिश करती है।

सुबह नाश्ते में औरत मजूर को आजकल कौन पखाल देता है? लेकिन लखी उनके घर में जबसे काम कर रही है, तबसे रघु की माँ उसे

पतीला भरकर पखाल देना नहीं भूलती। कभी अगर भूल भी जाए तो उसे अकेले में देख बूढ़ी याद दिला देती है, "बहन खाने को दोगी क्या? वह रई इंतजार कर रहा होगा।" उसे ऐसा लगता है कि अगर वह रई के बदले लुचन या मेरा बेटा बोले तो रघु की माँ मना भी कर सकती है। और अगर अंधा बोल देती तो शायद और एक मुट्ठी पतीले में डाल देती। मजबूरी में इनसान सब कुछ भूल जाएगा पेट को छोड़। "आहा...च...च... सब कुछ।" पखाल लिए लखी अपने घर की ओर चली।

मझली बहू बोलती है, "ताई सब तो बेटे को खिला देती हो, खुद कैसे दिख रही हो, कभी अपने आपको भी देखा है?"

रघु की माँ कहती है, "माँ का मन है न बहू, अपने बेटे को भूखा रखकर खुद कैसे खा सकती है?"

छोटी बहू पिछले साल ही ब्याह कर आई है। खूब हँसाती है। हर बात को घूमाकर बोलती है। मुँह बना के बोलती है, "ताई दोपहर को नहाने जाती हो न पोखर में? तब घाट पर कोई नहीं होगा। पानी चिकमिक कर रहा होगा। पत्थर पर खड़े होकर अपने आपको देखना, पानी में। कैसी लग रही हो देखना एक बार। एक कंघी भी दूँगी, वहाँ अपने बाल भी सँवार लेना।"

सभी हँसते हैं। लुचन की माँ भी फीकी हँसी हँसती है। नहीं तो कोई क्या सोचेगा। बोलती है, "अब मेरी उमर नहीं है बाल सँवारने की बहू? तुम लोग करो ये सब।

लखी बूढ़ी के घर लौटते वक्त लुचन दाँत माँजकर माँ का इंतजार कर रहा था। माँ के आने की बात पता चलते ही पखाल बाँटने के चक्कर में उसने पतीला आगे कर दिया। माँ ने पखाल, नमक, मिर्च सब बाँट दिए। माँ ने शायद अपने लिए कम पखाल निकाला है इसी आशंका में लुचन माँ के पतीले से खाने की जिद करने लगा। वह माँ के हिस्से का खाएगा और माँ उसके हिस्से का। लुचन के पतीले में बूढ़ी ने फिर थोड़ा सा पखाल उड़ेला। लुचन खुश हो के बोला, "अब जाकर समान हिस्सा हुआ।"

लेकिन रघु की बातों में ही बूढ़ी का ध्यान रमा था। सुविधा देख सारी बातें लुचन के सामने साफ कर देगी। "लुघन, पुजारी का लड़का कल आया है।" बूढ़ी बोली।

लुचन ने पूछा, "कौन सा लड़का माँ? रघु?

माँ बोली, "हाँ, तेरे बारे में पूछ रहा था। बोलता है, लुचन का पेनशन कागज इस बार जरूर करवा दूँगा।"

लुचन बोला, "हर बार तो बोलता है, पता नहीं कब करेगा?"

– तू तो रई, हर बात में नुक्स ढूँढ़ता रहता है। उसके हाथों में अगर होता तो कब का नहीं ले आता। दो चार महीनों में एक बार घर आएगा तो क्या-क्या करेगा? उसके खुद को भी तो कितना काम रहता है। खेत, खलिहान, बीवी, बच्चे, कितना कुछ है। फिर भी मिलते ही पूछता है, "लुचन के पेनशन के कागज का क्या हुआ? उसके लिए चिंता मत करना बड़ी माँ। एक ही माँ का नहीं हुए तो क्या हुआ। हमारे घर में काम कर कर तू बूढ़ी हुई। कल अगर तू नहीं रही तो क्या उसे ऐसे ही छोड़ देंगे। अगर कोई विपत्ती आई तो क्या हम भाई लोग बैठ के देखते रहेंगे? बोल रहा था सहला जाने के रास्ते में तुझसे मिल के बात करेगा। मैंने कहा, "ना रे बेटा, लुचन का क्या भरोसा? सुबह निकल गया होगा घर से।"

लुचन आग्रहपूर्वक सारी बातें सुन रहा था। इतना जोर देकर रघु ने पहले कभी नहीं कहा। लगता है इस बार जैसे भी हो कागज कर देगा। अब माँ पर थोड़ा गुस्सा कर बोला, "घर में इंतजार करने को तूने ही तो कहा था। मैं तो घर में हूँ, कहाँ जाता और?"

– हाँ, हाँ ठीक है। लेकिन अगर तू न होता तो? लौट जाता वह? क्या सोचता? फिर क्या वह अगली बार आता तुझसे मिलने? सहला से लौटते वक्त आ भी सकता है शायद। दोनों भाई मिलकर कागज की बात कर लेना। अगली बार जैसे भी हो कागज हो जाए, बहुएँ पूछ रही थीं, लुचन हमारे घर क्यों नहीं आते? तू उनके घर जाता क्यों नहीं? रघु के साथ बैठ सारी बातें कर लेता।"

– बाप रे ना, ना, उनके घर में तो कोई नहीं पूछता। कोई बात तक नहीं करता।

– तेरी चाची भी? बूढ़ी ने सोचा, लुचन के पास जवाब नहीं होगा।

"चाची पूछती तो है, मगर इतने जोर से 'आहा' जो करती है।" लुचन ने जवाब दिया।

"अरे बेवकूफ, बहुएँ तुझे पहचानती नहीं हैं। कैसे पूछेंगी? घर की मालकिन तेरी चाची है। अगर वह पूछती हैं तो तू और किससे डरता है?" लुचन की माँ ने आहा वाली बात को टाल दिया जैसे सुना ही नहीं।

सारा साहस इकट्ठा कर लुचन ने कहा, "फिर जाऊँगा अबकी बार।"

"क्यों नहीं जाएगा? बोलना मैं लुचन। रघु के साथ बात करनी थी।" बूढ़ी ने उसका थोड़ा साहस बढ़ाया।

"अगर किसी ने नहीं पूछा तो?"

"कैसे नहीं पूछेंगे?" लेकिन मन ही मन डर रही थी लखी। अगर सच में नहीं पूछे तो? भूखा मर जाएगा पर कभी उनके सामने हाथ नहीं फैलाएगा लुचन।

"आज जाऊँ क्या?"

"न, न, आज रघु सहला गया हुआ है। कल सुबह चले जाना।"

"कोई पूछे या नहीं पर तू अपनी बात जरूर कर आना। हमें अपने काम से मतलब रखना चाहिए।"

"अकेले जाऊँ या माँ के साथ? खुद से दो-चार बार यह प्रश्न कर चुकने के बाद लुचन फिर बोला, न माँ के साथ जाऊँगा तो भाभियाँ कहेंगी, बूढ़ा हो गया, पर माँ का पीछा नहीं छोड़ता। मैं तो शर्म के मारे मर ही जाऊँगा। अकेले जाऊँगा।

तब तक दोनों पखाल खत्म कर चुके थे। आधे पतीले पखाल से आधा पेट क्यों न भरा हो, पर मन खुश था दोनों का। एक-दो महीने के अंदर लुचन का पेनशन कागज जरूर बन जाएगा! रघु ने भरोसा दिलाया है। अब लखी बूढ़ी को भी लग रहा था कि कागज बन जाएगा। बेटा भूखा नहीं मरेगा। महीने में सौ रुपए भी अगर मिले तो कोई भी उसे कुछ पका के देने में मना नहीं करेगा। लखी अगर मर भी गई तो डर नहीं रहेगा। दोनों माँ-बेटे बैठे-बैठे ही सपने में डूबे हुए थे। इतने में रघु के लड़के मंटू ने आकर बुलाया, "दादी घर चल, सफेदी नहीं करेगी क्या?"

लुचन और उसकी माँ दोनों उठे। लुचन भोला के घर की तरफ निकल गया और बूढ़ी माँ निकली बड़े पुजारी के घर की ओर। आजकल मैं बड़ा हो गया हूँ, इस रोब से आगे-आगे चल रहा था मंटू, छोटा सा लड़का!

चिट्ठी पर्व

मेरे बचपन की बात है।' जीजाजी की पढ़ाई खत्म नहीं हुई थी। वे हॉस्टल में रहते थे, दीदी हमारे घर में। जीजाजी को दीदी चिट्ठी लिखती। डाकघर हमारे गाँव से दो किलोमीटर दूर पास के गाँव में था। जाहिर है लेटरबक्स भी वहाँ था। दीदी अच्छे से बंदकर लेटरबक्स में डालने के लिए छोटे दादाजी को अपनी चिट्ठी देती। बहुत दिनों तक ऐसा ही चलता रहा और उस अवधि में दीदी आठ-दस चिट्ठी भेज चुकी होगी। पर उसे जवाब नहीं मिलता। शायद जीजाजी पढ़ाई के चक्कर में चिट्ठी नहीं लिख रहे होंगे। दीदी का मन उदास रहता। एक दिन अचानक छोटे दादाजी के सोने के कमरे की सफाई करते वक्त उसने ये आविष्कार किया कि उसकी सारी चिट्ठियाँ दादाजी के तकिए के नीचे वैसे की वैसे पड़ी हुई हैं। न उन्हें पढ़ा गया है, न ही फाड़ा गया, बेचारे! गुस्से और अभिमान के कारण दीदी अपना सर पीटती रही। पर छोटे दादाजी का छोटा सा था जवाब, "चिट्ठी की क्या आवश्यकता है? तू यहाँ ठीक है, तेरा पति भी वहाँ ठीकठाक ही होगा। बस यही बात बोलने के लिए इतनी चिट्ठी क्यों?" उनके उत्तर में न अपराधबोध की भावना थी, न ही पोती को सीधा करने की कोई योजना ही थी! बस एक निर्लिप्त भाव सा उत्तर था उनका!

उसी छोटे उम्र में ही मन में ये बात बैठ गई की चिट्ठी लिखना शायद अपराध न हो, पर उसे लेटरबक्स में डालना एक अनुचित कार्य है। हालाँकि छोटे दादाजी की इस प्रतिक्रिया को अकारण नहीं कहा जा सकता है। गाँव में उस समय चिट्ठी मिलने के केवल दो ही अर्थ थे। एक तो, पारिवारिक स्तर पर चिट्ठी को लोग शोकवार्ता का वाहक समझते थे। गाँव में किसी के घर में कोई मृत्यु होने पर गाँव के दूसरे रिश्तेदारों के पास चिट्ठी के द्वारा खबर भेजी जाती, जिसको पत्र कहा जाता है। 'पत्र'

आया है मतलब क्रिया-करम में शामिल होने की खबर आई है। इसीलिए पत्र के मिलने के बाद उसके टुकड़े-टुकड़े कर फेंकना जरूरी था, अन्यथा मृत्यु की तांडव लीला गाँव भर में फैल जाती शायद! युवा वर्ग में चिट्ठी यानी प्रेम निवेदन। लोगों का मानना था कि चिट्ठी केवल विपरीत लिंग के बीच ही आदान-प्रदान की जाती है। अर्थात् चिट्ठी युवक युवतियों को ही देते हैं। किसी ने अगर किसी को चिट्ठी दे दी तो दाल में जरूर कुछ न कुछ काला है। किसी लड़की की शादी तोड़ने के लिए लड़की के नाम दो-चार चिट्ठी डलवा देना ही काफी होता है। दूसरी ओर, गाँव की लड़कियों को भी प्रेमी से ज्यादा चिट्ठी का इंतजार रहता है। उन दिनों अवश्य गाँव में साक्षरता मिशन नहीं था, न ही प्रौढ़ शिक्षा कर्मियों की बहुलता थी। इसके बावजूद साक्षरता के बहुत सारे फायदों में चिट्ठी लिख पाना और चिट्ठी पढ़ पाना मुख्य था।

ये सब थीं लोकाचार की बातें। गाँववालों की नजरों में भी हमारा परिवार कुछ खास था, क्योंकि हम शिक्षित वर्ग के थे। हालाँकि मेरी माँ की पीढ़ी तक हमारे परिवार में स्त्रियाँ अक्षरज्ञान से वंचित थीं। इसके बावजूद हमारा परिवार शिक्षित माना जाता था। असल बात यह थी, हमारे घर में नियमित रूप से चिट्ठियाँ आती थीं और पत्रिकाएँ भी। मेरे दो-दो ताऊ शहर में रहते थे। उनके यहाँ से चिट्ठियाँ आती थीं। पापा के दोस्त भी हमारे घर चिट्ठी भेजते थे। दादाजी की मृत्यु के बाद छोटे दादाजी के नाम से, गृहकर्ता के रूप में भी चिट्ठी आती। नियमतः चिट्ठी आती या जब भेजी जाती तो अक्षरज्ञान से वंचित घर की स्त्रियों की जानकारी के लिए छोटे दादाजी या पापा चिट्ठी पढ़कर सुनाते। पढ़ना-लिखना सीख जाने के बाद और एक बार चिट्ठी पढ़ने की जिम्मेदारी हम बच्चों पर थी। बिना किसी उत्साह के आकस्मिकता अथवा नूतनतारहित चिट्ठी को हम पढ़ देते। खेती-बाड़ी, बच्चों का स्वास्थ्य, गाँव में किसी की मृत्यु का समाचार, किसी के घर में बच्चे का जन्म, विवाह और विवादों की विशद जानकारी चिट्ठी में रहती। जब चिट्ठी पढ़ने की मेरी बारी आती, मैं यंत्रवत चिट्ठी पढ़ देता और अगर किसी वाक्य को दोबारा पढ़ने को कहा जाता, तो उसके बदले रिश्वत माँगता। घूस देनी पड़ेगी, इसलिए माँ कभी भी दोबारा पढ़ने को नहीं कहती। फलस्वरूप लाख कोशिशों के बावजूद मुझे रिश्वत नहीं मिलती।

स्थिति आज भी मेरे लिए पूर्ववत ही है।

उन दिनों मेरी दिलचस्पी चिट्ठी से ज्यादा चिट्ठी बाँटनेवाले में थी। हालाँकि सिनेमा के डाकिए की तरह न वह साइकिल की घंटी को टन्टन् कर चिट्ठी को आँगन में फेंकता, न डाकिया डाक लाया जैसा सुरीला गाना गाता। उसके पास तो डाकियोंवाली वर्दी नहीं थी। सादी धोती और बनियान पहने कंधों पर एक थैली डाले रहता। लौटते वक्त गाँव से रास्ते में सस्ते में मिलनेवाली सब्जियाँ भी उसी थैले में जातीं। वह पैदल आता और घर-घर घूम-घूमकर चिट्ठियाँ बाँटता। चिट्ठियाँ बाँटकर थका-हारा वह हमारे घर में बैठता, कभी-कभी चाय पानी भी पी लेता, हर बार कोई न कोई नई बात सुनाता। उसकी बात सुनने के लिए मैं उनके आगमन के इंतजार में ही रहता।

चिट्ठी बाँटनेवाले ये डाकिया महोदय हमारे कुटुंब के ही एक सदस्य थे, रिश्ते में पापा के बड़े भाई, यानी मेरे ताऊजी। सो वे डाकिया तू-ता संवोधन के परे थे। परिवार के बँटवारे के बाद उनके दादाजी पासवाले गाँव में रहने लगे। उनके हिस्से की सारी जमीन उसी गाँव में थी। हफ्ते में एक-आध बार हमारे घर जरूर आते। हम उनका पैर छूते और वे छोटे दादाजी को प्रणाम करते। जेठ भौजाई के रिश्तों के चलते माँ दरवाजे के पीछे रहकर ही प्रणाम करती, जिसको फूफी या छोटी दादी के मुँह से सूचना के रूप में सुन ताऊजी ऊपर देख गुनगुनाकर आशीर्वाद देते अगर फूफी झूठमूठ भी ऐसे ही घोषणा कर देती कि माँ ने प्रणाम किया, तो मां प्रणाम किए बिना ही ताऊजी से आशीर्वाद प्राप्त कर लेती। एक-आध बार मैंने यह सुझाया भी था कि फूफी की घोषणा से जब उसे आशीर्वाद मिलता ही है तो प्रणाम करती क्यों हो पर माँ मेरी बात नहीं मानी।

असल में ताऊजी डाक मास्टर थे। पर 'रनर' निरक्षर था, तो उनको डाक बाँटने का काम भी करना पड़ता था। वे 'डाकबुड्ढा' के नाम से और उनका घर 'डाकघर' के नाम से आस-पास के सात-आठ गाँव में जाना जाता था।

ताऊजी का प्रधान काम था चिट्ठी बाँटना, और अगर आवश्यक हो तो चिट्ठी पढ़ना। हाल ही में गाँव के दो युवकों की मिलेटरी में भर्ती होने के बाद से ही हर महीने मनीआर्डर बाँटना भी उनके काम का एक हिस्सा वन गया था। सेवानिवृत्ति के बाद भी ये दोनों नाम रह गए थे। जो महोदय

नए डाकमास्टर बने उनका लोग छोटे डाकबुड्ढा बुलाने लगे।

डाकिए के रूप में ताऊजी की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि वह अन्य डाकियों की तरह प्रेम विषयक चिट्ठियों को नहीं फेंकते थे। परिणामस्वरूप गाँव में उनकी काफी आलोचना होती। द्वितीयतः पत्र पेटी में डालने के लिए अगर कोई उन्हें चिट्ठी देता तो वे साफ इनकार करते हुए बोलते, ये उनकी ड्यूटी नहीं है। चलते-फिरते डाकघर की तरह अगर पीठ पर एक थैली लटकाते होते, तो दीदी जैसे लोगों को उन दिनों चिट्ठी डालने के लिए छोटे दादाजी जैसों पर निर्भर नहीं करना पड़ता। पर नियम के पुजारी ताऊजी अपने ही कुटुंब के लोगों के अनुरोध का भी ख्याल नहीं करते थे, जिसके चलते छोटे दादाजी जैसे चरित्रवाले लोगों को दूसरों के प्रेम-पत्र को अपने तकिए के नीचे छुपाने का मौका मिल जाता था!

चिट्ठी से ज्यादा ताऊजी की बातें ही मेरे लिए आकर्षक थीं। पूरे परिवार को श्रोता मानकर वह हमें अकसर हमारे वंश का इतिहास सुनाते। उनके वर्णन की बड़ी विशेषता थी उनका समयबोध। हमारे वंश की प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना को वह आसपास की तारीख, महीने और वर्ष में बाँधकर कहना प्रारंभ करते और बाद में देश-विदेश के इतिहास के साथ उसे जोड़ देते जैसे कि : चौदहवीं शताब्दी में खिलजी वंश के राजा जब दिल्ली पर शासन कर रहे थे, तब हमारे वंश के पूर्वज कन्नौज से जगन्नाथ पुरी आ गए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में जब अंग्रेजों ने ओड़िशा पर और नेपोलियन ने यूरोप पर विजय प्राप्त की, तब हमारा परिवार पुरी से संबलपुर आ गया था। पापा और ताऊजी के प्रपितामह के बँटवारे के समय बंबई में कांग्रेस की पहली बैठक चल रही थी। उनके बताए गए समय की प्रमाणिकता को मैंने कभी जाँचा नहीं, पर विश्व इतिहास के साथ हमारे परिवार का आंतरिक संबंध होने की बात को मैंने रोम-रोम में अनुभव किया है। बाद में इतिहास को लेकर मेरे आग्रह बढ़ने के पीछे शायद ताऊजी का इतिहासबोध ही प्रेरणा बनी हो! हालाँकि उस समय मुझे लगता था कि इतिहास जानने के लिए साथ में चिट्ठियाँ भी बाँटना जरूरी है। इसीलिए, बचपन में मेरे जीवन के अनेक लक्ष्यों में चिट्ठियाँ बाँटना भी एक हुआ करता था। बाद में सिनेमा देख हीरो बनने का लक्ष्य सिर पर सवार नहीं होने तक उपरोक्त लक्ष्य ही उद्दाम स्थिति में था, ये कहना

आज शायद अतिशयोक्ति न हो।

दसवीं में पढ़ते वक्त एक नई घटना घटी। पत्र-लेखन सीखने के बाद पहली बार (एक क्लासमेट से ही) मेरे नाम खत आया। उसके बाद ताऊजी के प्रति मेरी श्रद्धा भाव तो बढ़ा ही, पर उससे भी बड़ी बात यह थी कि मुझे लगा, अब मैं बड़ा हो गया हूँ। तब अनजान या पहली जान पहचान में ही अगर कोई मुझे तू-ता से संबोधित करता, तो ऐसा लगता कि टोक दूँ कि मैं क्या कोई बच्चा हूँ जो आप तू-ता कर रहे हैं? चिट्ठी मिलने के आग्रह को बनाए रखने के लिए मैंने अपने कई दोस्तों को चिट्ठी लिखी ताकि उनसे चिट्ठी मिलती रहे। कुछ दोस्तों ने जवाब भी दिया और कुछ डाकखर्च बचाने के चक्कर में चुप भी रह गए। मुझे लगा वे बड़ा होना ही नहीं चाहते हैं। चलो छोड़ो।

तब मेरे दोस्तों की दुनिया हाईस्कूल तक ही सीमित थी। अर्थात् हम सब दोस्त भिन्न-भिन्न लगभग एक सौ गाँवों से आकर एक ही हाईस्कूल में पढ़ते थे। छुट्टीवाले दिनों के अलावा हर रोज हम लोगों का स्कूल के परिसर में ही मिलना हो जाता था, बात भी होती थी, झ गड़े भी होते थे। फिर भी चिट्ठी लिखना सीख जाने के बाद हम एक-दूसरे के साथ चिट्ठियों के माध्यम से ही संपर्क स्थापित करने लगे। डाकबक्से में चिट्ठी डालने के बाद चिट्ठी मिली या नहीं यह हमलोगों में मुख्य चर्चा का विषय बन जाता। इस सिलसिले के बाद कुछ दोस्त कट भी गए, क्योंकि वे चिट्ठी का कोई जवाब नहीं देते थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि स्कूल में लड़कियाँ थीं पर वे हमारी चिट्ठियों की दुनिया से बाहर थीं। हो सकता है कि वे अपने बीच में चिट्ठियों का लेन-देन कर रही पर उनका हमें कोई पता नहीं था। यद्यपि स्कूल में लड़के और लड़कियाँ दोनों साथ पढ़ते थे लेकिन दोनों के बीच एक अभेद्य दीवार थी जिसमें छेद करना बहुत कठिन था। इस अभेद्य दीवार की सबसे बड़ी चीज थी-- शिक्षकों का डर। इसके साथ एक दूसरा उपादन था हम लड़कों का देहाती या गँवार होना और लड़कियों का हाईस्कूल वाले बड़े गाँव का होना अर्थात् शहरी होना। जो भी हो उन दिनों प्रेम और आकस्मिक घटना के अलावा भी चिट्ठियों की कोई आवश्यकता भी हो सकती है, इसका हमने पहली बार अनुभव किया था।

तब आठ-दस गाँव पर एक छोटा सा डाकखाना था और उसमें एक

ही डाकिया होता था। अर्थात् पूरे इलाके में दस-बारह डाकियों से ज्यादा डाकिए नहीं होते थे। सबसे बड़ा डाकघर था हाईस्कूल वाले बड़े गाँव में। हम बच्चे रोज किताबों की थैली लिए जैसे स्कूल जाया करते थे उसी तरह डाकिया लोग चिट्ठी से भरी हुए थैली लिए बड़े डाकघर जाते थे। कभी अगर रास्ते में मुलाकात हो जाती तो हम साथ मिलकर जाते। चलते-चलते वयस्कों की दुनिया की अनेक वर्जित बातें हमारे पास पहुँचती। स्कूल से गाँव के बीच की पगडंडी का रास्ता बातों बातों में कैसे कट जाता पता ही नहीं चलता। डाकिया दल और हाईस्कूल के लड़कों के बीच कभी-कभी फुटबाल मैच की बात भी सोची जाती, लेकिन वह सोच तक ही रह जाती।

यह सच है कि अकेले एक डाकिए पर आठ-दस गाँव के विस्तृत इलाके में चिट्ठी बाँटने की जिम्मेदारी रहती, लेकिन सही में देखा जाए तो ये कोई बड़ी बात नहीं थी क्योंकि आधे से अधिक गाँवों के लिए चिट्ठी आती ही नहीं थी। बाकी गाँव में कभी-कभार आती। इसलिए हमारे घर में नियमित रूप से चिट्ठी आने से भी ताऊजी को कोई खास मेहनत नहीं करनी पड़ती ऊपर से उन्हें श्रोता भी मिल जाते। आश्चर्य की बात यह थी अनके गाँव में प्रेम निवेदन या शोक संवाद के लिए भी लोग चिट्ठियों पर भरोसा नहीं करते! लोगों की नजर में तो डाकिया बिना काम किए सरकार से तनख्वाह लेनेवाला एक कर्मचारी था।

हमलोग जब चिट्ठी लिखना सीख गए, तब इस स्थिति में काफी परिवर्तन देखा गया। हर गाँव के एकाध बच्चे हाईस्कूल में पढ़ा करते वे अब चिट्ठी लिखना सीख गए थे सो हर गाँव में चिट्ठी आने लगी थी; हर गाँव से चिट्ठी भी जाने लगी। अकारण ही डाकियों का काम बढ़ गया। अब अंततः दिन में एक बार हर गाँव उनको अवश्य ही जाना पड़ता! इसके कारण एक दिन सम्मिलित हो सारे डाकिए मिलकर हमारे हेडमास्टर साहब के सामने शिकायत करने आए। अंत में जो उपाय निकला उसके अनुसार डाकिए की जगह हर गाँव से एक-एक छात्र अपने गाँव में डाक ले जाने और बाँटने की जिम्मेवारी लेगा। डाकिए लोग सारी डाक स्कूल में लाकर दे देंगे।

हमारे गाँव में चिट्ठी ले जाने की जिम्मेदारी मेरे ऊपर थी। स्कूल का कोई दोस्त मुझे चिट्ठी भेजता तो दो दिन के बाद डाकिया वह चिट्ठी लाकर

मुझे देता, मैं चिट्ठी को गाँव ले जाकर पढ़ता। चिट्ठी के प्रति मेरा और मेरे दोस्तों का अब आग्रह खत्म हो गया था। स्थिति शीघ्र ही पूर्ववत हो गई। चिट्ठियों की संख्या कम हो जाने के बाद डाकियों ने भी हम छात्रों पर निर्भर होना छोड़ दिया।

चिट्ठियों के प्रति अनंत काल तक शायद मैं बीतस्पृह ही रहता, अगर कुछ दिनों के बाद एक राष्ट्रीय सेवा शिविर में जाने का अवसर मुझे न मिलता। अचानक एक दिन स्कूल के नाम एक चिट्ठी आई कि एक राज्यस्तरीय राष्ट्रीय सेवा शिविर में स्कूल के दो छात्र मनोनीत किए जाएँ। इससे भी बड़ी बात थी, मैं और मेरे एक चाचे का लड़का उस शिविर के लिए मनोनीत हो गए। दूर शहर में आयोजित दस दिनों के उस शिविर में, हमने राष्ट्रीय सेवा संबंधित जितना ज्ञान आहरण किया, उससे बहुत अधिक मात्रा में छात्रा प्रतिनिधियों से दोस्ती कर ली। किशोर अवस्था के उस उन्माद में लड़कियों के साथ दोस्ती करने का कार्यक्रम हमारे लिए किसी राष्ट्रीय सेवा से कम आदर्शपूर्ण न था। दोस्ती से बात आगे बढ़कर घर का पता आदान-प्रदान करने तक पहुँची। आखिरी रात को बिदा वेला से पहले कुछ शिविरार्थी रोने-बिलखने भी लगे। हालाँकि मैं उनमें शामिल न था, क्योंकि किसी लड़की ने न अपनी ओर से मेरा पता माँगा था, न ही अपनी ओर से अपना पता ही दिया था। कुछ लड़कियों ने तो मेरे कई बार अनुरोध करने के बावजूद मुझे अपना पता नहीं दिया था। इसके बावजूद भी मुझे विशेष दुख नहीं हुआ, क्योंकि मेरे चचेरे भाई को लड़कियाँ आग्रहपूर्वक अपना पता दे रही थीं और हम दोनों भाई हर काम को मिलजुलकर ही करते थे।

शिविर से लौटने के बाद चिट्ठी लिखना फिर से शुरू हो गया। बांधवियों से जितनी चिट्ठी आती, उससे कहीं अधिक चिट्ठी हमारी ओर से जाती। फिर एक बार चिट्ठियों के प्रति मेरा आग्रह बढ़ा। इधर डाक ढोने की जिम्मेदारी से तभी मुझे मुक्ति मिल चुकी थी। मेरा अनुमान है, हम दो भाइयों की प्रत्येक तीन चिट्ठियों के जवाब में एक चिट्ठी आती। इसके बावजूद छः महीनों के अंदर हम डाक टिकट या तांबे के पैसे संग्रह करने की तरह लगभग दो दरजन चिट्ठियाँ संग्रह कर चुके थे। चिट्ठियों में हम लोगों के बीच भाई-बहन का संबंध हुआ करता था, क्योंकि उससे आगे

जाने का न ही मौका था न ही साहस! उसके बावजूद 'सेवा में' के स्थान पर अपना नाम देख जिस आनंद की प्राप्ति होती थी, उसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है। चिट्ठियों के कारण ही दिनों दिन दोस्तों के बीच हम दो भाई ईर्ष्या के पात्र बने। परोक्ष रूप से कहा जाए तो इस ईर्ष्या ने हमारे आनंद को द्विगुणित किया।

पहले पहल हम दो भाई खर्च कम करने के लिए एक ही लिफाफे में चिट्ठी भेजते थे। बाद में हम दोनों ने एक-दूसरे से छलकर अलग-अलग चिट्ठियाँ भेजना प्रारंभ किया। प्रायः छह महीनों के बाद अपनी तरफ से जितनी भी चिट्ठी दें पर उसके जवाब में एक भी चिट्ठी नहीं आई। इस घटना के अनेक वर्षों बाद हम दो भाइयों ने आविष्कार किया कि अलग-अलग लिफाफे में चिट्ठी भेजते वक्त हम जिस मात्रा में समाजिकता की रक्षा करते थे, उससे कहीं अधिक एक-दूसरे को असामाजिक प्रमाणित करने की कोशिश करते थे। शायद यही हमारे चिट्ठी-पर्व के पतन का मुख्य कारण बना।

बीच में और एक दुर्घटना घटी। दीदी और जीजाजी के बीच पत्राचार के संपर्क को काटने का दायित्व जिस प्रकार छोटे दादाजी ने लिया था, उसी प्रकार हमारे समय आईं फूफी। इस फूफी ने परिवार के सारे छोटे बच्चों का अभिभावक बनने का दायित्व स्वेच्छा से ही सिर पर ढो रखा था। बांधवियों के साथ पत्राचार होने के बाद से ही हम दो भाई बड़े खुश रहने लगे थे। हमारी खुशी फूफी की चिंता का कारण बनी। आखिरकार उनको चिट्ठियों की बात पता चल ही गई। उसके बाद और क्या था? तरह-तरह के हथकंडे अपनाकर कर्तव्यनिष्ठ ताऊ को फुसलाकर हमारे नाम आनेवाली चिट्ठियों को हथियाने लगीं। छोटे दादाजी से भी अधिक जिज्ञासु थीं फूफी। चिट्ठियों को अक्षत अवस्था में न रख वे हमारे से खार खानेवाले एक दूसरे चचेरे भाई से चिट्ठियाँ पढ़वाने लगीं। चिट्ठियाँ फूफी के पास गिरवी रहीं। पत्र प्रेषिका का नाम तक जानने का हमें मौका न मिला।

मैंने पहले ही कहा है चिट्ठी पर्व का आरंभ से प्रायः छः महीने बाद ही समापन हो गया। फूफी ने चैन की साँस ली। खुद की आत्मसंतुष्टि के लिए हम ये कहते फिरे हमें वे बहनें आज भी चिट्ठी लिखती होंगी, बीच में फूफी चिट्ठियाँ गायब कर देती होंगी। मगर वास्तविकता तो यह थी कि

बहनों ने चिट्ठी लिखना ही बंद कर दिया था। क्योंकि हम दो भाई एक-दूसरे की निंदा कर चिट्ठियाँ लिखने लगे थे इसलिए उनके पास जवाब में कुछ लिखने के लिए बाकी नहीं रह गया था।

बहरहाल, अंत में हमलोगों के नाम चिट्ठी आना बंद हुआ। उसके बाद केवल चिट्ठी के लिए ही नहीं डाकिया ताऊ के लिए भी मेरे मन में बीतस्पृह भाव भर गया। उनका इतिहासबोध भी मन में उनके प्रति कोई आग्रह सृष्टि करने में समर्थ न हो सका। इस बीच अगर और कहीं राष्ट्रीय सेवा शिविर में जाने का मौका मिलता तो शायद नए सिरे से आग्रह जगता। पर ऐसा न हुआ जिससे इस बीतस्पृह भाव में कोई कमी आती। मेरी पूरी दुनिया उन कुछ गाँवों में सिमटकर रह गई।

परोमा

गाँव में जब भी कुछ नया करने की बात आती तो वह परोमा के अलावा दूसरे किसी और से भी संभव होगी, ऐसा गाँववाले कभी सपने में भी नहीं सोच सकते थे। अपना गाँव जैसा गाँव तो और कहीं भी नहीं होगा। डींग मारनेवाले गाँव के इन लड़कों के कहे अनुसार अपने गाँव में ही क्यों पूरे इलाके में भी कोई ऐसा न होगा जो परोमा जैसा कुछ कर दिखाए। परोमा के करतबों में शामिल थे– घर में रेडियो रखना, गेजेट (अखबार) मँगवाना और अपनी साइकिल के आगे-पीछे दो-दो बत्ती लगवाना आदि। इनमें से रेडियो नाम की चीज जब पुरानी हो गई अर्थात् गाँव के और भी लोगों ने जब रेडियो खरीद लिया या फिर दहेज में हासिल कर लिया तब अपनी विशेषता बरकरार रखने के लिए परोमा ने तीन-तीन रेडियो रखे। उनमें सबसे छोटा रेडियो तो इतना छोटा था कि उसे कभी वह अपने दगली (शर्ट) की जेब में रख लेता या फिर गेंद की तरह मुट्ठी में रखकर घूमने निकल जाता। सुननेवाले भौचक्के से रह जाते, आखिर गाना आ कहाँ से रहा है।

परोमा की इन करतूतों को देख कुछ लोग बिना लड़े-झगड़े ही सहमत हो गए थे कि परोमा जरूर एक दिन गाँव का नाम रोशन करेगा।

रेडियो ने कहा है और अब तो गेजेट में भी निकला है कहकर वह अजीब-अजीब बातें गाँव में सुनाता था। एक वार उसने बताया कि अमेरिका के नाम से एक देश है जहाँ लोग दिशा मैदान भी जाते हैं तो मोटरगाड़ी में। एक दो साल भी पुरानी पड़ जाए तो गाड़ी को फेंक आते हैं बाहर। क्योंकि बाहर फेंकने के लिए भी पैसा लगता है इसलिए रात के अँधेरे में ही छोड़ आते हैं अपने दुश्मनों के दालान या खलिहान में। गाड़ी का नंबर बुझा रहता है, इसलिए पता ही नहीं चलता कि मालिक कौन है? और कभी-कभार तो असली मालिक को अपनी मोटर वापस

लाने के साथ-साथ और दो-चार पुरानी मोटर भी रखनी पड़ती है दंड के रूप में।

परोमा की बातों को शत-प्रतिशत सही मानकर कुछ लोग आश्चर्य से कहते 'बाप रे बाप इतने अमीर लोग भी होते हैं इस दुनिया में? हमारे यहाँ तो एक बैलगाड़ी जुगाड़ करते-करते पूरी जिंदगी गुजर जाती है। परंतु गाँव में ऐसे कुछ लोग भी हैं जो बिना तर्क-वितर्क के किसी भी बात को सही मान ही नहीं सकते। परोमा दूर ही रहता है ऐसे लोगों से। फिर भी ऐसे लोग परोमा के पीठे पीछे उसकी खिल्ली उड़ाते हुए कहा करते हैं अव्वल दर्जे का झूठा है। छोड़ो भी झूठे की बातों को। कितना भी कोई अमीर क्यों न हो मोटरगाड़ी को भी कहीं कोई फेंक सकता है भला? हाँ मुफ्त में किसी को बैठाने की बात बोलो तो आदमी यकीन भी करे।

परोमा को यह सब जब पता चलता तो वह बेहद नाराज होता। रात में रोनेवाले बच्चों को भुलाने के लिए जब बाप लोग घर से बाहर ले आते और उस मौके का इस्तेमाल करती हुई माँएँ घर पर खाना बनातीं तब टाइम पास के लिए बाप लोग परोमा से पूछते, "और परोमा देश-दुनिया के बारे में गेजेट और क्या-क्या कह रहा है?" परोमा उन लोगों पर बुरी तरह से बिगड़ते हुए कहता, "मुझसे क्यों पूछ रहे हो भाई? पूछो उनसे। सामने तो बोलेंगे कहो नई बातें और पीछे बोलेंगे झूठी, फालतू बात करता है। आदमी इतना पैसा खर्च करके रेडियो खरीदेगा, पेपर पढ़ेगा और उन बातों को अगर बोलेगा तो यहाँ कहेंगे झूठ और फालतू बात। कुएँ के मेंढक साले। मरो कुएँ में।"

महीने में दो-तीन बार शहर जाकर सिनेमा देखना परोमा की पुरानी आदत रही है। हालाँकि शहर उसके अपने गाँव से ज्यादा दूर नहीं है और गाँव में सिनेमा का नाम लोग परोमा से आगे भी सुन चुके थे फिर भी सिनेमा देखने केवल कोई शहर जा सकता है ऐसा परोमा के अलावा दूसरा कोई सोच ही नहीं सकता। बार-बार सिनेमा देखने के बाद जब वह लंबे-लंबे बाल रखने लगा और डाकखाने की बेरंग चिट्ठी जैसा पैंट-दगली पहनने लगा तो किसी ने कहा पागल हो गया है तो किसी ने कहा मुसलमान चूड़ी बेचनेवाली तुर्कियन का मर्द। पर परोमा ने खुद अपने आप को कहा, हिप्पी! गाँव के और दूसरे कुछ लोगों ने कहा, "जो भी कपड़े पहना दो साला परोमा को अच्छा फबता है। राजकुमार की तरह लगता

है साला।" गाँव के लोग जब मेहमान बनकर कहीं जाते हैं तो दगली पहनते हैं, और तो और बहुत सारे लोगों को तो तब भी दगली नसीब नहीं होती। पर परोमा दिन रात हिप्पीवाला कुरता पहनने लगा। इससे उसकी इज्जत इतनी बढ़ गई कि जब भी गाँव में शहर से आला अफसर आते तो बातचीत करने परोमा को बुलावा भेजते और उसे आप कहकर बातें करते। इसके अलावा गाँव में किसी के बीमार पड़ने पर जब शहर से डॉक्टर बुलाने की नौबत पड़ती या शादी-ब्याह में मोटरगाड़ी को भाड़े पर लाने की बात आती तो लोग परोमा से कहते। कई गाड़ी के ड्राइवरों से उसकी इतनी दोस्ती हो गई थी कि वह बेहिचक उनसे 'क्या यार' जैसी हिंदी बोलता था।

गाँव में कुछ लोग ऐसे भी थे जो परोमा के खिलाफ भी काफी कुछ कहते थे। लड़का बरबाद हो गया है। आज बाप जिंदा होता तो क्या लड़का सुधर न जाता। कुछ औरतें उसकी विधवा माँ के प्रति हमदर्दी जताते हुए कहतीं, "ऐसा बेटा पैदा करने से अच्छा बाँझ रहना है। पूरा बरबाद करके छोड़ेगा तुम्हें।" कइयों ने तो कहा, "इसकी शादी करवा दो तब ठिकाने आएगा।" बेचारी बूढ़ी माँ सब कुछ सुनकर चुप रह जाती। वह दुखी थी परोमा से और हमदर्दी जतानेवालों से भी।

परोमा की निंदा से विचलित हुए बिना मैं और मेरे कुछ मित्र स्कूल में, दूसरे गाँव से पढ़ने आनेवाले बच्चों के आगे अपने गाँव की बड़ाई करते वक्त परोमा की मिसाल देते और चिढ़ाते हुए पूछते थे कि उनके गाँव में परोमा जैसा कोई है क्या? तब हमें लगता परोमा के नया-नया सब कर पाने के पीछे एक ही कारण है उसके अपने घर में उसके कामों का विरोध न होना। अगर हमारे घर में विरोध न होता तो हमलोग भी न जाने क्या-क्या कर लेते।

परोमा जितनी सारी अजीबोगरीब करतूतें करता उसके लिए उसे काफी पैसों की भी जरूरत पड़ती होगी– यह बात हमें तब पता चली जब उसने अपनी माँ से बिना पूछे अपनी जमीन जायदाद को पहले टुकड़ों में गिरवी रखा और बाद में बेचने लगा। इससे उसकी माँ नाराज हो कहती, "लड़का ऐसा होगा पता होता तो पैदा होते ही गरदन मरोड़कर उसे मार डालती। आखिर में बूढ़ी माँ उससे अलग हो गई। इस प्रकार शादी से पहले ही परोमा ने माँ से अपना चूल्हा अलग कर लिया।

माँ से अलग होने के बाद परोमा को और कौन सँभाले? अपने हिस्से की बची-खुची सारी जमीन एक ही बार में बेचकर उसने कई नई चीजें कर डाली। उसने अपनी साइकिल में फुल चेनकवर लगवाया, सामने में डायनेमो और एक सुंदर सा कैरियर जिस पर रेडियो रहता था। साइकिल चलती तो गाना चलता था। अपनी पुरानी घड़ी के बदले उसने एक नई घड़ी खरीद ली जिसमें अंग्रेजी में तारीख, महीना लिखा होता था और चाभी देने की भी जरूरत नहीं पड़ती थी। अगले दो-तीन साल में गाँव में जरूर बिजली आएगी, क्योंकि गेजेट में निकला है कहकर उसने अपने घर पर बिजली की बत्ती और पंखे लगवा लिए। अपने दरवाजे पर उसने कालिंगबेल भी फिट करवा ली जो टार्च की बैटरी से चलती थी। जब उसे बुलाने के लिए कोई बाहर से आवाज देता तो वह नाराज होकर कहता, "कालिंगबेल बजाया करो मैं अपने आप आ जाऊँगा। आवाज देने की कोई जरूरत नही।" बच्चे कालिंगबेल को जब खिलौने की तरह बार-बार बज्राते तो वह और भी नाराज होकर कहता, "ठहरो, एक बार बिजली आ जाए। फिर देखना ऐसा फिटिंग कर दूँगा कि उसे छूते ही झटके खाकर नाचना शुरू कर दोगे।

गाँव में जब किसी बुजुर्ग ने उसे डाँटते हुए कहा, "तूने तो कुछ खरीदा नहीं था, बाप-दादा के जमाने से चली आ रही जमीन-जायदाद को इस तरह शाक-सब्जी के जैसे क्यों बेच रहा है?" परोमा का जवाब था, "संसार में रहोगे कितने दिन, जितने दिन रहना है, आनंदित करते रहो अपना तन और मन।"

ऐसे ही कुछ दिन बीत गए। परोमा माँ से अलग होने के बाद निरंतर अपनी नई-नई करतूतें करता रहा। फिर एक दिन सिनेमा देखने शहर गया, तो लौटा ही नहीं। बेचारी बूढ़ी मां कई दिनों तक रोती बिलखती रही। शंकर भगवान के मंदिर में उसने नारियल चढ़ाया। भविष्य बतानेवाले बाना के यहाँ भी वह पूछने गई। कभी कोई गाँव से शहर जाता तो कहती देखना मेरा परोमा अगर कहीं दिखाई पड़ जाए तो लिवा लाना, कहना माँ मर चुकी है। तुम्हें डाँटने के लिए कोई नहीं बचा है। अपने घर लौट आओ। उस साल गाँव के कुछ लोग जब तीरथ करने गंगा-गया गए थे तब भी उस बेचारी बुढ़िया ने उनके हाथ कुछ चिल्लर थमाते हुए कहा, "मेरा परोमा मिल जाए तो दे देना।" बूढ़ी अब भी सोच रही थी गाड़ीभाड़ा

न होने के कारण परोमा कहीं दूर शहर में रुक गया है, घर लौट नहीं पा रहा है। नहीं तो माँ को छोड़ वह इतने दिन बाहर नहीं रह सकता।"

काफी दिनों तक परोमा जब शहर से लौटा नहीं तो कई लोगों ने कई बातें कहीं। चेतन और कीर्तन ने तीरथ से लौटने के बाद कहा, गंगा-गया में परोमा गुफाओं में मुनियों का चेला बनकर रह रहा है। टिकरू की माँ शहर में अपना इलाज करवाने गई थी। सख्त बीमार थी वह। इलाज काफी दिनों तक चलता रहा। बूढ़ी अस्पताल में बरामदे में पड़ी रही। भीख माँगकर उसने अपना गुजारा किया। वह एक दिन सर्कस भी देखने चली गई थी। गाँव लौटकर उसने बताया परोमा सर्कस पार्टी में शामिल हो गया है। अभी तो तंबू उठाता है, बाद में खेल भी दिखाएगा। टिकट काटनेवाले ने बताया है। मेघु कुम्हार ठहरा परोमा का हमउम्र, पर उसका घनघोर विरोधी। उसने एक दिन आकर कहा, परोमा जैसे दिखनेवाले एक जवान लड़के की लाश हीराकुंड केनाल में पड़ी है। सहला थाने का बाबू अपनी आँखों से उसे देखकर आया है। बड़ी अशुभ खबर है। इसलिए वह किसी से बताता नहीं।

ऐसे में दो-तीन साल गुजर गए। परोमा को गाँव में लोग भूलने भी लगे। तभी अचानक ही सुबह-सुबह एक आदमी पूरा पैंट, टेरिकट दगली, कलाई में घड़ी, जूता, काला चश्मा और सिर पर टोपी लगाए एक बड़ा भारी बैग लिए गाँव में आया। गाँव के लिए जहाँ लोग मोटर से उतरते हैं, वहाँ से पैदल न आना पड़े इसलिए शहर से ही वह एक रिक्शे में बैठकर आया था।

उसे इशारा करते हुए बिजाधर ने चकामन से कहा, "देखो वह परोमा की तरह दिख रहा है।" उस आदमी ने जब गाँव में तीन-चार लोगों से हिंदी में परोमा की माँ का घर कहाँ है– पूछा तब उसकी आवाज से लोग समझ गए कि यह आदमी परोमा के अलावा दूसरा कोई नहीं है।

परोमा आया है सुनकर एक मिनट में लोग इकट्ठा हो गए। परोमा दूसरों की बात तो छोड़ो अपनी माँ को भी पहचान न पाया और उसकी ओर इशारा करते हुए उसने लोगों से पूछा, "यह बूढ़ी कौन है?" खाली हिंदी में ही बोलता था वह।

दो साल में माँ को भी पहचान न पाने की बात सुनकर कुछ लोगों ने कहा, ससुरा, नाटक कर रहा है। पर जब पता चला कि परोमा माँ के

लिए चप्पल, सर्दियों में ओढ़ने के लिए मोटी चादर, नाखुन काटनेवाली मशीन और पाट साड़ी ले आया है, तब लोगों ने कहा वह आजकल बहुत बदल गया है।

कुछ ही दिनों में परोमा की ताकत फिर एक बार देखने को मिली। जब उसने कहा, एक दो महीने में ही वह अपनी नौकरीवाली जगह में लौट जाएगा, गाँव में नहीं रहेगा, तब गाँव के बूढ़े बुजुर्ग लोग भी उसके साथ प्यार से बात करने लगे। गाँव में जहाँ भी वह अपनी नौकरीवाली जगह के बारे में बतियाने लगता लोग इकट्ठा हो जाते। मानो कोई खेल दिखाने आया हो। केवल इतना ही नहीं लोग उसे चाय-नाश्ता, भी करवाते थे। कहते थे, कुछ ही दिनों का तो मेहमान है।

अब हरदम वह हिंदी में ही बात करता था। कहता था उसे यहाँ की भाषा याद नहीं है। बूढ़े-बुढ़िया जब पूछते थे यह कौन सी भाषा सीखकर आए हो तब वह गंभीर आवाज में जवाब देता था इंग्लिश। पर उसकी इंग्लिश को समझने में किसी को कोई दिक्कत नहीं होती थी, क्योंकि खाता है जाता है, जैसे दो-चार शब्दों को छोड़ वह अपनी गाँव की बोली में ही लगभग बोलता था। लेकिन इन सबके बावजूद गाँव के लोगों को गर्व था चलो अपने गाँव का कोई विदेश गया है और इंग्लिश बोलता है।

उस दिन हलवाई के दालान में औरतों ने घेर लिया था परोमा को। छबील की बीवी ने एक दोना भुजिया पकड़ा दिया था उसके हाथ में और अपनी नौकरीवाली जगह के बारे में बताने के लिए कहा था। परोमा बतिया रहा था उसकी नौकरीवाली जगह का नाम था नागपुर। यह सुनकर समरू की माँ के दिमाग में मजाक सूझा। उसने पूछा, "वहाँ क्या लोगों के नाक बड़े-बड़े होते हैं?"

पीछे से शनु की बड़ी बेटी ने कहा, "जब नाकपुर के नाम से शहर है, तो कानपुर, आँखपुर, पेटपुर, मुँहपुर भी होगा।" परोमा के जवाब देने से पहले ही थबीरा की नई नवेली दुल्हन कमली ने टोकते हुए कहा, "पढ़ी-लिखी होती तो पता होता। कानपुर के नाम से भी एक बड़ा शहर है। है ना परोमा।" परोमा ने जब इस बात पर अपनी सहमति जताई तब शनु की बेटी भौंचक्की सी बोली, "अच्छा।" साहस पाते ही कमली ने कहा, "वह तो शायद दो-दो नागपुर के बराबर होगा।" समारी कहती है, "भाभी तो ऐसे कह रही है जैसे उसका बचपन नाकपुर-कानपुर में बीता हो।" तब

हरी की दादी ने पूछा, "क्या वह जगह गंगा-गया से भी ज्यादा दूर है?" प्रमिला का वर चेतन इसी साल ही गंगा-गया सब तीरथ करके लौटा था। हरि की दादी को टोकते हुए उसने कहा, "तुम भी दादी कितनी अनजान हो, गंगा-गया से भला कैसे दूर हो सकता है वह? तीन दिन और तीन रात लगती है यहाँ से और वह भी मोटरगाड़ी रास्ते में खराब न हुई हो तो।"

चतरू बूढ़ा अपनी छड़ी लिए घर से निकला था। परोमा को देख रुक गया। उसने पूछा, "अच्छा बेटा, तुम्हारी वह जगह कितनी बड़ी होगी? अपने गाँव से दो-तीन गुना तो बड़ी होगी ही।" परोमा ने कहा, "ना, बहुत बड़ी।" चतरू ने कहा, "बीस-तीस गुना बड़ी?" परोमा ने कहा, "ना उससे भी बड़ी।" यह सुन बूढ़ा कुछ नाराज होते हुए बोला, "झूठ की भी कोई सीमा होती है? उतना बड़ा गाँव भी कहीं कभी हो सकता है क्या?"

बूढ़ा जब अपनी छड़ी ठुक-ठुकाते हुए चला गया, परोमा नाराजगी दिखाते हुए कहता है, "इसलिए तो तुमलोगों से मैं कुछ भी बतियाना नहीं चाहता।"

औरतों ने पीठ पीछे बूढ़े को डाँटते हुए कहा, "अरे छोड़ो न बूढ़े की बात। बताओ और क्या होता है, तुम्हारे नाकपुर में?"

तब परोमा ने बताया कि नाकपुर में जहाँ भी नजर घुमाओ दस-बारह मंजिल ऊँची बिल्डिंग ही बिल्डिंग दिखाई देती है। झोपड़ी का तो नामोनिशान भी नहीं है। जिस किसी की छत पर देखो तिरंगे झंडे की तरह टेलीविजन का एंटिना। गरीब से गरीब लोगों के घर भी एक फटफटिया तो होगी ही। रेडियो का तो कोई हिसाब-किताब ही नहीं हो सकता। नाकपुर में भाईसाहब कहकर बात करो तो पूरी मदद करेंगे लोग। लेकिन ऐसे पूछो तो अपना नाम भी नहीं बताएँगे।

नाकपुर की और एक विशेषता उसने बताई। कहकर लो तो हजार रुपया क्यों न हो कोई बुरा नहीं मानता। पर चोरी करो तो एक रुपया के लिए भी फाँसी चढ़ा देंगे। बच्चों में बाँटने के लिए महिला समिति की डेगची में रखे हुए केयर खाद्य की ओर इशारा करते हुए उसने कहा, ऐसा केयर खाद्य को तो लोग नाकपुर में पाँव से लताड़ देते हैं। कोई नहीं खाता है। अपने गाय-बैलों को भी लोग नहीं खिलाते हैं। इसीलिए कि गाय का दूध भी कहीं खराब न हो जाए।

परोमा की केयर खाद्यवाली बात का काफी असर देखने को

मिला था गाँव में। बच्चे अपने हिस्से में ज्यादा से ज्यादा माँगते हुए कहते थे, मेरा भाई का हिस्सा भी दे दो, आज उसे बुखार है, या मुझे और थोड़ा दो, मैं कल आया नहीं था। पहले गाँव के दो-चार घर के बच्चों को छोड़ बाकी सारे बच्चे केयर खाद्य लेने जहाँ महिला समिति के बरामदे में ताँता लगा देते थे, वहीं अब वे सारे असभ्य बच्चे परोमा के पीछे-पीछे घूमने लगे थे और अपने पिता-माता से पूछे बगैर ही परोमा से कहा करते थे, "मुझ े ले जाओ ना अपने नाकपुर में।" वह बच्चों की बातें सुनकर हँस देता था जिसका अर्थ हाँ है या ना पता ही न चलता।

ऐसे ही कई माह निकल गए। परोमा नाकपुर गया ही नहीं। जब पूछो कहता है, "अगले महीने।" शुरू-शुरू में लोग सच्चे दिल से पूछते भी थे। बाद में उसका मजाक उड़ाते हुए पूछने लगे। कुछ महीनों बाद वह भी बंद हो गया। जमीन तो वह बेंच ही चुका था, इसलिए वह भी बिना जमीनवाले सुखवासी की तरह मजदूरी करने लगा। उसका काला चश्मा, टोपी, और दूसरी चीजें कहाँ गईं पता नहीं। वह नाकपुर क्यों नहीं गया, यह बात गाँव में रहस्य बनकर रह गई। अब तो बच्चे भी उसके पीछे भागते नहीं और उलटे अगर कहीं वह दिख जाए तो उसे इशारा करते हुए कहते हैं, "साला नाकपुरिया, झूठा कहीं का!"

स्वाँग का सच

गोहाटी रेलवे स्टेशन से लगकर ही है पलटन बाजार। रात को हम वहाँ एक होटल में ठहरे थे। होटल से पाँच मिनट की दूरी पर ही स्टेशन है। ट्रेन में आरक्षण हो चुका था। बैग समेटना, बोतल में पानी भरना– ये सारे काम हो गए थे, बाबू अपना जूता पहन चुका था, अणिमा अपनी साड़ी भी बदल चुकी थी। हालाँकि मैं लुंगी पहने हुए था, बस आदेश मिलते ही इन लोगों का अनुसरण कर पाने का आत्मविश्वास मेरे अंदर था। ट्रेन छूटने को डेढ़ घंटा बाकी है और एक घंटे के बाद भी अगर होटल छोड़ा जाए तो ट्रेन छूटने की आशंका नहीं है।

अणिमा ने शुरू किया, "अगर कभी तुमने और किसी दूसरे को अपनी जड़ी-बूटीवाली दवाई दी तो देखना। तुम क्या डॉक्टर हो या सर्जन? अगर किसी को कुछ हो गया तो?" हालाँकि खाली समय के उपयोग के लिए हम एक प्रसंग की तलाश में थे, पर इसी बहाने झगड़ा करने की मेरी मानसिक तैयारी बिलकुल न थी। पर इस समय अणिमा इस विषय को चुनने का कारण उसे ही पता होगा। उसके प्रत्येक शब्द से ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे बोलने से पहले वह खूब गुस्से में आ गई है। विषय को उसके तार्किक परिणाम तक पहुँचाने को वह पूरी तरह तैयार है।

अणिमा के तीन वाक्यों से मुझे विषय के पूर्वापर प्रसंग को जानने में देर नहीं लगी। इटानगर की हमारी पड़ोसिन लता ने कुछ दिन पहले मेरे ही परामर्श से अपनी नाक में करेले के पत्ते का रस डाला था। नियमित सिरदर्द के तत्काल इलाज के लिए मैंने उसे करेले के पत्ते का रस सूँघने को कहा था। करेले के पत्ते के औषधीय गुण से लाभान्वित कुछ सिरदर्द से पीड़ित रोगियों की सूची भी मैंने उसे दी थी।

लेकिन नाक में करेले के पत्ते का रस डालते ही बेचारी लता

छींक-छींक के परेशान हो उठी। सिरदर्द से अब छींक की समस्या ज्यादा बड़ी हो गई। हालचाल पूछने गए कुछ पास-पड़ोसियों के शरीर में भी छींक के कुछ छींटे पड़े। उसके घर से लौटकर दो-चार लोग खुद ही आक्रांत हो गए छींक से। सौभाग्य से उस दिन मैं काम से कहीं बाहर गया हुआ था। जो भी हो, मिशन अस्पताल जाकर ही उसकी छींक रुकी। बच गया। लता की छींक दो दिन तक कॉलोनी में चर्चा का मुख्य प्रसंग बनी।

"मुझे क्या पता था कि वह आदमी मुझे ऐसी दवाई देगा।" आकस्मिक छींक की बीमारी से आक्रांत लता ने अपनी मासूमियत साबित करने के लिए मेरे बारे में दूसरों को कहा। भाईसाब के बदले आदमी शब्द के प्रयोग के कारण कॉलोनी में मेरे सम्मान (जिसको हम वजन भी कहते हैं) का ह्रास तो हुआ ही, पर उससे कहीं अधिक सम्मान की हानि हुई पुतुल काया अणिमा की। वजनहारिणी लता के बदले मुझ पर आरोप लगाकर जिस झगड़े का प्रारंभ उसने किया था, उसका अंत अभी तक नहीं हुआ था। कोई पूर्वाभास न हो, अचानक पेट्रोल की मूल्यवृद्धि की तरह ही वह बीच में बरस पड़ती है। तब पूरी बात को तो छोड़ो आँधी की सूचना देने के लिए एक शब्द ही काफी है।

उस प्रसंग पर हम पति-पत्नी तब तक कई बार चर्चाएँ अर्थात् बेटे के शब्दों में झगड़ा कर चुके थे। हर बार लता की छींक की तरह ही अचानक अणिमा उस प्रसंग का श्रीगणेश करेगी, "तुमने ये जड़ी-बूटी, नीमपत्ता, करेले का पत्ता, अदरख, लहसुन का परामर्श किसी दूसरे को दिया तो देखना। क्योंजी, तुम क्या डॉक्टर हो या सर्जन? क्या सोचते हो कि जड़ी-बूटियों के बारे में बोलने से तुम्हें भारत-रत्न मिलेगा या इलेक्सन लड़ोगे? रोग दुखों के निवारण के लिए लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार पैसे खर्च करते हैं। उसके लिए पहले से तैयार भी रहते हैं। पैसे न होने से कर्ज लेते हैं। बड़े-बड़े महापुरुष कह गए हैं, आदर्श गृहस्थ अपनी कमाई का तीस प्रतिशत रोग-शोक के लिए बचाता है। और तुम किसी रोग के लिए करेले के पत्तों का रस तो किसी को तुलसी की जड़ देकर सोचते हो दुनिया से रोग दूर कर दोगे। अगर तुलसी और करेले के पत्ते से संसार निरोगी हो जाएगा तो क्या जरूरत रह जाएगी मेडिकल कॉलेज और इतने सारे रिसर्च सेंटरों की। सरकार से कहो कि सारे कॉलेज और सेंटर बंदकर उसकी जगह नीम और करेले की खेती करवाए और सारे डॉक्टर

और सर्जन वहाँ माली और जमादार के रूप में बहाल हो जाएँ।"

किसी सेमिनार में गांभीर्यपूर्ण विचार-विमर्श के बाद जैसा होता है, हर बार मैं अपने उत्तर दोहराता हूँ, "मैं अपनी जड़ी-बूटियों का परामर्श ले कभी किसी के घर गया हूँ क्या? तुम्हारी दोस्त ने पूछा, तो मैंने बताया। उसको क्या मैंने कहा था कि एक बाल्टी करेले के पत्ते का रस ले अपने नाक में डाल दे? ज्यादा से ज्यादा दो-तीन बूँद दो-चार बार अपने नाक में डालना चाहिए था। एक के बदले अगर दस गोलियाँ लोगे तो क्या तुम्हारी डॉक्टरी दवाई भी नाक में दम नहीं कर देगी?"

–अजी तुम्हारे पास क्या डॉक्टरी डिग्री है? अगर किसी को कुछ हो गया तो? तब क्या तुम्हारे जड़ी-बूटी के वकील आकर तुम्हारे लिए केस लड़ेंगे? बिन कहे बिन पूछे नई-नई परेशानी अगर घर लाओगे तो क्या यहाँ रहा जा सकता है? मुझे ही तो सबकी बातें सुननी पड़ती हैं, कोई बोलता है कंजूस कहीं का। दस रुपए भी अगर खर्च करना नहीं चाहता है तो, खुद खाए जड़ी-बूटी, दूब-घास। दूसरों को क्यों खाने को कहता है? अपनी बदनामी का हिस्सेदार बनने के लिए किसी दूसरे को रखो। मैं ये सब नहीं सहन कर सकती।

मैं कहता, "देखो, हम दोनों हुए दो अलग-अलग व्यक्तित्व। कॉलोनी में अगर मेरा वजन घटता है, उसे मैं देख लूँगा। तुम्हारे वजन की बात तुम समझो और समझने में अगर दिक्कत हो रही है, कहोगी तो समझाने के लिए एक मुनीम भी रख लेंगे। मेरी बदनामी सुनना अगर भारी पड़ रहा है, तो अपने कान बंद कर दो। ढलान की ओर पानी के बह जाने जैसी ही सारी बदनामी अपने आप ही मेरे पास आ जाएगी।

बिना उपक्रमणिका के प्रारंभ हुई चर्चा बिना किसी उपसंहार के खत्म होती है। अंतिम अध्याय में अणिमा से कोई जवाब नहीं मिलता। आज भी वही हुआ। गुस्से में लाल हो उसने सुँ-सुँ कर रोना शुरू कर दिया। बाबू, छोटा बच्चा बचपन से ही ऐसी अनेक दुर्घटनाओं का चश्मदीद गवाह रहा है। वह चुप रहता है। बुजुर्गों की बातों में टाँग नहीं अड़ानी चाहिए। साथ ही परिस्थिति को यथासंभव शांत करने की कोशिश भी करता है। कभी सफल होता है, कभी नहीं। परिस्थिति अपने आप ही शांत हो जाती है। हर समय अशांत रहना भी परिस्थिति की कुंडली में नहीं।

ठीक इसी समय किसी ने दरवाजा खटखटाया। बाबू ने दौड़कर

दरवाजा खोला। कभी-कभी दृश्य में किसी नए व्यक्ति का प्रवेश परिस्थितियों को उनके समय से पूर्व ही शांत कर देता है। इतनी छोटी सी उम्र में बाबू भी ये बात जानता है।

एक अनजान सज्जन रूम के अंदर आए। बड़े ही परेशान लग रहे थे। उन्होंने कहा, "आप शायद डॉक्टर हैं! होटल के रजिस्टर में आपके नाम के आगे डॉक्टर लिखा हुआ है।"

"नहीं नहीं मैं पी.एच.डी वाला डॉक्टर हूँ, मैं यथासंभव नम्र होने की कोशिश कर रहा था।

"हे भगवान बच गए। असल में मैं एक डॉक्टर को ही ढूँढ़ रहा था। मेरी पत्नी बीमार है। रात से उसे दस्त लगा हुआ है। कृपया आप आकर उसे देख लेते तो अच्छा होता। हम इसी फ्लोर में हैं।" मेरा जवाब शायद उन्होंने सुना नहीं था। एक ही साँस में बोले जा रहे थे। इतनी जल्दी बोले जा रहे थे कि उनके वाक्य में कॉमा, पूर्णविराम आदि का पता ही नहीं चल रहा था।

"मैं मेडिकलवाला डॉक्टर नहीं हूँ।" मैंने एक बार फिर स्पष्ट किया। अणिमा की ओर नजर गई। रोने की आवाज अब सुनाई नहीं दे रही थी। कुछ समय पहले इस नए व्यक्ति की उपस्थिति उसे शांत कर चुकी थी। स्वतःस्फूर्त रूप से मेरे मुँह से निकल गया, "अच्छा, आपकी पत्नी को हुआ क्या है?" मन में डर था, बाद में अणिमा अवश्य पूछेगी, "गले पड़कर तुम क्यों उन्हें पूछ रहे थे? तुमने कहा डॉक्टर नहीं हो। तो वे डॉक्टर ढूँढ़ते।" मन ही मन उसके प्रश्न का जवाब तैयार किया, क्या बकवास करती हो। चाहे जितना भी अनजान क्यों न हो, बोल रहा है उसकी पत्नी की तबीयत खराब है, यदि व्यक्ति की हैसियत से उसे पूछूँ भी नहीं कि क्या हुआ है, पर, जिस उत्सुकता से अणिमा उस आदमी को ताक रही थी, लग रहा था कि वह भी यह प्रश्न पूछना चाहती है।

"कल रात से ही दस्त लग रहे हैं। कम नहीं हो रहे। कामरूप एक्सप्रेस में हमारा रिजर्वेशन है। पास कोई डॉक्टर है क्या?" मैं डॉक्टर नहीं हूँ ये जानने के बाद उस भद्र व्यक्ति की परेशानी कई गुना बढ़ गई।

"हालाँकि गोहाटी मेडिकल कॉलेज यहाँ से ज्यादा दूर नहीं है। लेकिन उसके लिए क्या समय है?" मैं अपनी घड़ी को देखते हुए बोला। हम दोनों मिलकर उस समस्या का कोई समाधान ढूँढ रहे थे ऐसा लग

रहा था कि बिना कुछ बोले ही अणिमा हमारी बातचीत में शामिल है।

"अभी अगर टिकट को रद्द करूँ, तो क्या बाद में रिजर्वेसन मिलेगा? दो-दो छोटे बच्चे, बीमार पत्नी को लेकर बिना रिजर्वेसन के जाऊँ भी तो कैसे? वह तो पूरी तरह नर्वस हो गई। मुझे कोई रास्ता नहीं सूझ रहा।" उस आदमी की बातचीत से लगा कि वह अपने पत्नी से भी ज्यादा नर्वस है। "आप डॉक्टर बन मेरे साथ चल सकते हैं क्या? उसको थोड़ा सा साहस मिल जाता। ट्रेन में एक बार चढ़ने के बाद आगे मैं सँभाल लूँगा। हमारी सीट गुसलखाने के पास ही है।"

उस सज्जन के पीछे-पीछे मैं उनके कमरे में गया। जाते वक्त मैंने अणिमा की ओर बिलकुल नहीं देखा। अपनी पत्नी से मेरा डॉक्टरवाला झूठा परिचय करवाते हुए उसने कहा, "चारू, ये देखो डॉक्टरसाब आए हैं। संयोग से हमारे पास के कमरे में ही रह रहे हैं।" अणिमा की अनुपस्थिति में मेरा झूठा परिचय मुझे कुछ-कुछ सच लगने लगा था।

भद्र महिला खाट पर मुँह दबाए पड़ी हुई थी। मेरा परिचय सुन बिना हाथ ऊपर किए ही उसने नमस्कार किया। बदन के कपड़े अस्त-व्यस्त थे, उस ओर उसकी नजर नहीं। संकट के समय प्रसाधन भी किसी महिला के लिए कितना गौण हो जाता है, वे इसका उदाहरण थीं। मुँह का रंग फीका पड़ गया था। "डॉक्टरसाहब आप बस एक इंजेक्शन लगा दीजिए, बाकी मैं सँभाल लूँगी।" वह घबारकर बोल रही थी। दंपत्ति के लिए दस्त के इलाज से भी बड़ी आवश्यकता थी ट्रेन-यात्रा। अगर रिजर्वेसन रद्द हुआ, इस ट्रेन से नहीं गए तो दूसरा रास्ता भी नहीं है। दस्त बंद न हो तो कोई परेशानी नहीं। अंततः ट्रेन में चढ़ने के बाद ही हो। बस यही हुआ। याचना कर रहे हैं! उत्तर पूर्वांचल में रहने के बाद उनका व्यवहार मुझे अस्वाभाविक नहीं लगा। ट्रेन में रिजर्वेसन मिल जाना ही, यहाँ बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जाती है। उसको कौन छोड़ना चाहेगा। दोनों बच्चे अभी तक सोए हुए थे। कोई एक बिस्तर को गंदा भी कर चुका था, बस अभी-अभी। अभी तक वहाँ मक्खियाँ भी नहीं पहुँची थीं। छोटे बच्चे ने शायद गंदा किया था। मैंने खुद को आश्वस्त किया। एक महिला को इस प्रकार की दुःस्थिति में देखने का अभ्यास नहीं होने के कारण कई चीजों पर यकीन नहीं हो रहा था। शायद यही एक डॉक्टर और एक आम आदमी में फर्क साफ नजर आ जाता है।

फिर भी एक पक्के डॉक्टर की तरह ही मैं भद्र महिला की खाट के पास गया। दवाईवाले दुकानदार के परामर्श से खरीदी हुई दवाइयाँ बिस्तर पर पड़ी थीं। दवाइयों को मैंने बड़े ही गंभीरता से देखा। न जानते हुए भी मैंने महिला की नब्ज जाँची अंत में डॉक्टर जैसा ही बोला, "चिंता न करें, सब ठीक हो जाएगा।" मैंने भद्र व्यक्ति से पूछा, आपके पास नींबू तो होगा? उन्होंने हामी भरी। फिर मैंने कहा, "मैं कुछ कालीमिर्च लाता हूँ। छिलकेवाले नींबू को कालीमिर्च के साथ पान की तरह चबा-चबाकर उसके रस को निगल लीजिए। असल में सिलबट्टे से पीसने से ज्यादा अच्छा रहता है। पर यहाँ तो सिलबट्टा नहीं मिलेगा। नींबू से भी बेहतर नींबू की पत्ती, अनार का पत्ता, अमरूद का पत्ता, चाय की पत्ती। ये सब दस्त के यम हैं। जो भी हो। पास जो है इससे ही काम चलाना होगा। स्टेशन से और कुछ नींबू और अनार खरीद लीजिएगा। अनार का छिलका चबाइए। चिंता का कोई कारण नहीं है। हम भी कामरूप एक्सप्रेस से जा रहे हैं।" अणिमा की अनुपस्थिति में निडर हो मैंने अपना डॉक्टरी परामर्श दे ही डाला।

"कामरूप एक्सप्रेस? कौन सी बॉगी?" भद्र व्यक्ति के स्वर में आश्वस्ति के भाव का स्पष्ट पता चल रहा था। उनकी पत्नी की बात दूसरी है। अंततः उस व्यक्ति को तो यह याद रखना चाहिए कि मैं झूठमूठ का डॉक्टर हूँ! डॉक्टर जैसा सम्मान मिलने के बाद मैं मन ही मन बड़ा खुश होने लगा, पर डर भी लगा। मेरे पूरे कथन में उस आदमी को केवल कामरूप एक्सप्रेस मे जाने की बात ही सुनाई पड़ी। इसके बाद डॉक्टरसाहब बीमार पत्नी की पूरी जिम्मेदारी लेंगे। साथ ही दस्त के कुछ दूसरे रोगी भी न आ जाएँ, अणिमा तो मेरी जान ही ले लेगी!

कालीमिर्च लेने के लिए मैं अपने कमरे में लौटा। लंबी यात्रा के समय बैग में सारीडन, डिस्प्रिन आदि के साथ अणिमा से छुपाकर कुछ कालीमिर्च, सौंठ जैसी चीजें भी रख लेता हूँ। बैग साफ करते वक्त बाद में अणिमा मुझे डाँटते हुए उन्हें फेंकती है। फिलहाल अणिमा और बेटा दोनों ही खुश दिखाई दे रहे थे। पहलेवाली स्थिति से संपूर्ण भिन्न। भद्र व्यक्ति की व्यग्रता देख अणिमा और बेटा मन ही मन ईश्वर के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर रहे थे कि उसने हमें ऐसी परिस्थिति में नहीं डाला।

एक आश्वस्ति और सुरक्षा का भाव हमारे समग्र परिवार को

आह्लादित कर रहा था। उन लोगों के दुख में दुखी होने का मनोभाव मेरा सही था या डॉक्टर बनने का जैसे अभिनय था, मैंने खुद से पूछा। अणिमा को सुनाते हुए मैंने कहा, "अगर महिला की तबीयत ठीक भी हो जाए तो भी वे लोग ट्रेन नहीं पकड़ पाएँगे।"

अणिमा ने पूछा, "क्यों?"

"दो छोटे-छोटे बच्चों को तैयार कौन करवाएगा?"

अबकी बार उनके कमरे में अणिमा भी आई मेरे साथ। अभिनय न करके उनके परिवार के लिए सच में कुछ करने का समय आ गया था! इस बात का शायद अणिमा को भी अनुभव हो चुका था!

खुशी की बात यह थी कि मेरे परामर्श ने जादू की तरह काम किया। दस्त की तीव्रता धीरे-धीरे घटने लगी। अणिमा की मदद के बाद दोनों परिवार भागमभाग में स्टेशन पहुँचे और गाड़ी पकड़ने में सफल रहे।

शाम को हम उनकी बॉगी में गए। भद्र महिला खूब तरोताजा लग रही थीं। भद्र व्यक्ति बच्चों के साथ लूडो खेलने में लगे हुए थे। शाम का दृश्य सुबह से बिलकुल भिन्न था। मात्र दो बार ही वे ट्रेन में टायलेट गईं थीं। "सौभाग्य से आप मिल गए। आप अगर नहीं होते तो हम आ ही नहीं पाते। आपका कर्ज मैं जिंदगी भर चुका नहीं पाऊँगा।" भद्र व्यक्ति के समग्र वक्तव्य में केवल आप ही आप कहीं पर भी नींबू के छिलके या कालीमिर्च के प्रति कृतज्ञता का नामोनिशान नहीं था। मजाक-मजाक में ही सही मैं ये बात बताना चाह रहा था। शायद घरेलू डॉक्टर की फीस नहीं दे पाने के बदले प्रशंसा की लड़ी लगा देने की आवश्यकता वह महसूस कर रहे थे। नींबू का छिलका और कालीमिर्च का अगर उल्लेख करता तो, वातावरण मजाकिया बनता, साथ वह मेरी नम्रता को भी दर्शाता। परंतु अभी तक अणिमा से मेरे मन का डर गया नहीं था। भद्र महिला ने गुसलखाने की बदबू से बचने के लिए अपने नाक में रूमाल दे रखा था। टी.टी.ई से कहकर पति-पत्नी अपनी सीट बदलवाना तय कर चुके थे।

उन्होंने हमें बिस्कुट खिलाया। हमारा पता लिया। कुछ समय की बातचीत के बाद हम लोगों ने आविष्कार किया कि हम दोनों की भाषाओं में भारी समानता है। यही नहीं बाबू और उनके छोटे लड़के की राशि भी एक है। उनका बड़ा लड़का हमारे बेटे की तरह ही गंभीर है। अणिमा ने उनके एक भाषाभाषी हमारे पड़ोसी का नाम लिया, जिनको भद्र महिला

अच्छी तरह से जानती थीं। उसके बाद दोनों भद्र महिलाओं ने पड़ोसी की पहले अध्याय में प्रशंसा और बाद के अध्याय में आलोचना प्रारंभ कर दी। भद्र महिला को संबलपुरी साड़ी बहुत पसंद है, पर इतना कहने पर भी ये खरीद के नहीं देते। बच्चों की अंताक्षरी में भद्र व्यक्ति ने हमारे बेटे की और अणिमा ने उनके बेटे की मदद की। भद्र व्यक्ति के साथ मैं इस बात पर एकमत था कि आजकल का जमाना ही खराब है।

उस दिन अपनी बॉगी में लौटते वक्त मैं अगले दृश्य की कल्पना कर रहा था। अब अणिमा कहेगी, "हालाँकि हर बार जड़ी-बूटी खराब है ये कहा नहीं जा सकता।" इसका अर्थ स्पष्ट है, सुबह के झगड़े के लिए उसे अफसोस है। मैं कहूँगा, "अब तो अपनी भूल समझ गई। भविष्य में और कभी करेला, नींबू और नीम के पत्ते, छिलके के बारे में बुरा-भला कुछ मत बोलना।" अवश्य उसके इगो को चोट लगनी नहीं चाहिए। इसलिए यथासंभव मध्यस्थ की भूमिका लेकर कहूँगा, "पर इसमें तुम्हारी कोई गलती नहीं है। परंपरा और पारंपरिक विश्वास के विरुद्ध तो पूरा आधुनिक समाज सिर ताने खड़ा है। अनजाने ही सही तुम लोग उस नकाबपोश समाज की ओर से एक-एक सौन की भूमिका निभा रहे हो। पारंपरिक विश्वास को रूढ़िवाद का नाम देकर समग्र शिक्षित वर्ग भी उसी भूमिका में है। परंतु इतनी उपेक्षाओं के बावजूद हजार सालों के सामाजिक अवबोध और अनुभूति के आधार पर ही आज पारंपरिक चिकित्सा जिंदा है। आज इतनी सारी आधुनिक प्रगति के बावजूद समाज के अधिकांश लोग आधुनिक चिकित्सा से वंचित हैं। वे इन्हीं जड़ी-बूटियों के सहारे ही जिंदा हैं। मान लो कि दुनिया के सारे रोगी अपने रोग के निवारण के लिए एस्कर्ट, अपोलो, वेलोर और वूर्ला जाना प्रारंभ कर देंगे तो अस्पताल के सामने जनसमुद्र ही जनसमुद्र दिखाई देगा और तब शायद डॉक्टर की फीस तो ...। विभिन्न प्रकार के पेड़-पौधों के पत्ते और छिलके हैं इसलिए प्राणी समाज आज जिंदा है।

मेरे वक्तव्य के बीच में अणिमा शायद अपनी जिज्ञासा पूरी करने के लिए पूछ सकती है, "किस बीमारी के लिए कौन सा पत्ता होना चाहिए? उसकी एक तालिका प्रस्तुत कर रसोईघर में टाँग दी जाए तो कोई हर्ज नहीं। बेटे के लिए तो 'शून्य स्थान भरो' और 'क' वर्ग और 'ख' वर्ग का उचित मेल जोड़ो आदि प्रश्नाभ्यास के माध्यम से विभिन्न प्रकार

के पत्ते और छिलकों के बारे में प्राथमिक ज्ञान दिया जा सकता है। थोड़ी मेहनत करनी पड़ेगी। पर माँ और बेटे कम से कम जड़ी-बूटियों के समर्थक बन जाएँगे, मुझे परिश्रम से डर नहीं। परंपरा की रक्षा की लड़ाई अपने घर से ही प्रारंभ होनी चाहिए।

हम अपनी बॉगी में पहुँचे। सीट पर बैठते ही अणिमा बोली, "सुनते हो, अगर अबसे कभी तुमने नाम के आगे 'डॉक्टर' लिखा तो देखना। होटल रेजिस्टर या ट्रेन रिजर्वेसन के आवेदन पत्र पर तो बिलकुल ही नहीं। होटल में अच्छा कमरा मिल जाए इसीलिए क्या अपना इतना झूठा परिचय दोगे?" शायद उसकी ओर से एक नए झगड़े के लिए यह अभिनव प्रस्तुति थी।

उसके आह्वान को स्वीकार कर मेरे झगड़े में कूदने से पहले ही बाबू ने मां का पक्ष लेते हुए कहा, "माँ ठीक कह रही है। नाम के आगे डॉक्टर लिखने की क्या आवश्यकता है?" और इस प्रकार बेटे के सहज उपसंहार ने नए झगड़े के काले मेघों को दूर-दूर तक पछाड़ दिया।

स्कूल

स्कूल के नाम पर जो एक संस्था है हमारे गाँव में, पढ़ाई होती है उसमें प्राइमरी तक। दूरी दो फर्लांग से ज्यादा नहीं है गाँव से। पास में एक तालाब है, नाम है 'रथ का तालाब'। यह नाम इसलिए नहीं पड़ा कि रथयात्रा के दिन गाँव का रथ तालाब तक आया करता है, बल्कि इसलिए पड़ा क्योंकि यह तालाब गोपाल रथ नामक एक निःसंतान के दान से बना है। गाँव से थोड़ी दूर होने के कारण लोगों का यहाँ नहाने न आना जिस तरह एक सच्चाई है, स्कूल के बहुत करीब होने के कारण बच्चों का यहाँ 'दीर्घशंका' के लिए आना और उससे भी बढ़कर दीर्घशंका के नाम पर तालाब के पानी में हुड़दंग मचाना भी उसी तरह एक सच्चाई है। इसके अलावा और एक महत्वपूर्ण काम के लिए तालाब की जरूरत पड़ती है स्कूल को। वह है गार्डन के नाम पर मास्टरों के किचन गार्डन के लिए बच्चों की मदद से तालाब से पानी लिया जाना। कहने का मतलब यह है कि गाँव की शोभा बढ़ाने के लिए जितनी आवश्यकता स्कूल की है, उतनी ही आवश्यकता है रथ के तालाब की स्कूल की शोभा बढ़ाने के लिए और इस बात को हमारे गाँव में जो कोई भी आया है चाहे दो-चार दिन के लिए ही क्यों न हो, जरूर महसूस करता है।

गाँव में सार्वजनिक स्थान के तौर पर जिन दो जगहों का नाम लिया जाता है उनमें 'भागवत गुड़ी' के बाद स्कूल का ही नाम आता है। इसलिए शराब के ठेके से प्राप्त दान से लेकर भले घरों की बहू-बेटियों पर हुए बलात्कार के अपराध से वसूला गया जुर्माना, बड़े तालाब की मछलियों के ठेके एवं पीडब्ल्यूडी की पेड़ कटाई की नीलामी तक से मिलनेवाले पैसे जमा हो जाते हैं 'भागवत गुड़ी' या स्कूल के नाम। बदले में बारातियों को टिकाना, कीर्तन मंडली की भीड़ और युवक संघ की आधी रात में मुर्गे की दावत आदि सब कुछ सहती हैं ये दोनों संस्थाएँ।

भागवत गुड़ी में लोग न समा पाएँ तो पहुँचते हैं स्कूल। हालाँकि गाँव में समय-समय पर बंदरिया का नाच और तरह-तरह के करतब दिखाकर भीख माँगने तथा इलाके की हर छोटी-मोटी चोरी के लिए थानेदार से पिटाई खानेवाले परदेसी बंजारों की बात कुछ और है। भागवत गुड़ी के गंदे हो जाने के भय से तथा रथ के तालाब के सदुपयोग करने की उम्मीद में वे लोग स्कूल में ही टिकना पसंद करते थे। फलस्वरूप रात स्कूल के चबूतरे पर बिताकर दिन में मास्टरजी के आने से पहले तथा उससे भी ज्यादा पत्थर मारने में माहिर शैतान बच्चों के आने से पहले स्कूल छोड़कर चले जाना पड़ता था उन लोगों को।

स्कूल में मास्टरसाहब हैं तीन। उनका सही नाम पूछा जाए तो गाँव के आधे से भी अधिक लोगों को मालूम नहीं। और जिन कुछ लोगों को मालूम भी है, उन्हें मास्टरों का पहले आधे लोगों द्वारा दिया नाम ज्यादा आसान लगता है। बड़े मास्टर साहब हैं बूढ़े मास्टरजी, बीचवाले कुदोपाली गाँव के होने के कारण कुदोपलिया मास्टरजी और तीसरे के बड़े-बड़े दाँत होने की वजह से दँतले मास्टरजी। इस बीच केवल 'दँतले मास्टरजी' नाम लेना बच्चों के लिए मना है, कम से कम स्कूल में इस नियम का पूरी तरह पालन होता है। शायद मना होने की वजह से ही ज्यादा लेते यह नाम बच्चे स्कूल के बाहर।

स्कूल में हालाँकि छात्रों की कुल संख्या डेढ़ सौ से कम नहीं है, नियमित उपस्थिति चालीस-पचास से अधिकि नहीं है। फिर भी विदेशी केअर-खाद्य और आदिवासी बच्चों को सरकारी कपड़े बाँटनेवाले दिनों की बात, कुछ और है। लगभग सारे बच्चे उपस्थित होते हैं उस दिन। जो दो-चार बच्चे उपस्थित नहीं भी होते, उनकी जगह वहाँ अनुपस्थित बच्चों के नन्हे-मुन्ने भाई-बहन उपस्थित हो जाते हैं। नन्हें बच्चों की ओर इशारा करके जब मास्टरजी उनके बड़े भाई-बहन से पूछते हैं- इसे क्यों ले आए, इसका तो नाम भी नहीं लिखा गया है अभी तक? जवाब मिलता- माँ खेत में मूँग तोड़ने गई हैं। मुन्ने को रखने के लिए आज और कोई भी नहीं है घर में। मास्टरजी पूछते, इतने दिनों तक क्यों नहीं आ रहे थे, जैसे सवाल का भी वही जवाब मिलेगा सोचकर मास्टरजी सवाल करना उचित नहीं समझते और सलाह देते कि बच्चे नाक तो साफ कर लिया करो या फिर जब अगली बार लाना तो कम से कम एक निक्कर पहना लेना।

हमारे गाँव के अलावा जूना गाँव और बागिपाली के बच्चे स्कूल में पढ़ने आते हैं किंतु दो साल पहले लेबिड़ी गाँव में एक स्कूल खुलने के बाद वहाँ के मास्टरों ने चाहा कि जूना गाँव के बच्चे उनके स्कूल में आएँ। सरकारी अनुदान पाने के लिए उनके स्कूल में बच्चे भर्ती हों। बात पक्की हो गई कि बारिश के चार महीने लेबिड़ी गाँव का ग्वाला जूना गाँव के बच्चों को नदी पार करा देगा। तबसे उनका हमारे स्कूल में आना बंद हो गया है। हमारे बूढ़े मास्टरजी ने विदेशी केअर-खाद्य बांटते समय जूना गाँव के बच्चों के साथ भेदभाव नहीं किया जाएगा और बिना कमीज पहने आने पर भी उन्हें नहीं डाँटा जाएगा जैसे कुछ वायदे कर दिए होते तो शायद जूना गाँव के बच्चे नदी पार करने जैसी सुविधा की परवाह किए बगैर हमारे गाँव के स्कूल में ही आते। मगर हमारे स्कूल को सरकारी अनुदान मिलना शुरू हो चुका था और बच्चों की संख्या घट जाने पर भी उसके रुकने की आशंका न होने के कारण मास्टरजी ने ऐसा कोई वायदा करने से इनकार कर दिया। शायद अगले एकाध साल में लेबिड़ी स्कूल को सरकारी अनुदान मिलना शुरू हो जाने पर गाँव का ग्वाला बच्चों को नदी पार नहीं कराएगा। फलस्वरूप जूना गाँव के बच्चों के लिए हमारे गाँव के स्कूल में आने के अलावा और कोई चारा नहीं रह जाएगा।

स्कूल में पाँचवीं तक पढ़ाई होती है, उसके लिए कमरे सिर्फ चार ही हैं। एक कमरे में विदेशी केअर-खाद्य रखा जाता है, इसलिए उसका नाम रसोईघर है। गरमी और बरसात के महीनों में मास्टर साहब लोग अपनी साइकिलें और छाते उसी कमरे में रखने के बावजूद उस कमरे को साइकिल या छातेवाला कमरा क्यों नहीं कहा जाता, यह रहस्य किसी को मालूम नहीं। बाकी के तीन कमरों में से दो कमरों में दो-दो कक्षा के बच्चे भारत-पाकिस्तान की तरह आमने-सामने बैठते थे। फलस्वरूप प्रतियोगिता की भावना से एक कक्षा के बच्चे हरी की माँ, उगता सूरज, मधु की किताब पढ़ते तो दूसरी कक्षा के बच्चे उनसे भी साफ स्वर में 'तू ही माँ जन्मभूमि, पवित्र भारतभूमि' पढ़ते थे। यह कभी-कभी फुटबाल खेल के हो-हल्ले-सा प्रतीत होता था तो कभी आँधी-तूफान की तरह। शांतिप्रिय शिक्षकगण ऐसे हो-हल्ले से दूर रहने के लिए क्लासरूम से थोड़ी सी दूर पर खड़े आम के पेड़ के नीचे बैठ या लेटकर अपनी-अपनी खेती-बाड़ी या फिर ग्रैच्युटी, प्रोविडेंट फंड जैसे विषयों पर चर्चा करते रहते।

पाँच कक्षाओं के लिए थे कुल तीन मास्टर। उनमें से दो मास्टर चार कक्षाओं को थोड़ा-बहुत पढ़ा भी देते, पर नहीं पढ़ाते तो वे बूढ़े मास्टरजी, जिन्हें सिर्फ एक ही कक्षा को पढ़ाना होता था। क्योंकि 'कैसी पढ़ाई हो रही है' देखने आनेवाले लोगों के सम्मुख 'जैसी पढ़ाई चल रही है' उसकी विस्तृत जानकारी देना ही उनका मुख्य काम था।

स्कूल निरीक्षक के अलावा गाँव के जो और कुछ लोग स्कूल की पढ़ाई को लेकर चिंतित रहा करते थे, वे थे गाँव के पुराने वृद्ध व्यक्ति। उनकी राय में ना अब वह पहले जैसी पढ़ाई रही, और ना ही पढ़ने-पढ़ानेवाले। इसलिए पुराने समय की पढ़ाई और पढ़ानेवालों को लौटा लाने के लिए कभी-कभी वे लोग स्कूल आकर पढ़ाई-लिखाई के बारे में पूछा करते थे तथा मानचित्र, चॉक, डस्टर, सादे कागज जैसी लेखन-सामग्री का उचित उपयोग वहाँ न हो पाने के कारण अपने-अपने पोते-पोतियों के लिए ये चीजें घर ले जाया करते थे। उनमें से एक वृद्ध के घर में कोई पोता-पोती नहीं था और घर में हर समय बहू के बर्बर व्यवहार की वजह से वे समय बिताने स्कूल आ जाते थे तथा उनके हिस्से में पड़नेवाले चॉक, सादा कागज आदि चीजें साहूकार की दुकान में देकर उनके बदले में बीड़ी, तंबाकू ले आते थे।

चूँकि किसी को स्कूल कमेटी का चेयरमैन बनना पड़ता है, इसलिए गाँव का एक आदमी चेयरमैन वन जाता एवं पढ़ाई-लिखाई कोई खास न जानने की वजह से तथा उस काम को देखनेवाले और काफी लोग होने के कारण वे सिर्फ केयर-खाद्य आदि का वितरण किस तरह चल रहा है, उसी में रुचि लेते थे। इस ओर ध्यान देते-देते वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि केअर-खाद्य बहुत फालतू है और यह इनसान के खाने योग्य नहीं है। इसलिए बोरी की बोरी केअर-खाद्य अपने घर मँगवाकर घर के जानवरों को खिलाते थे। लेकिन बदले में कुछ न देकर जानवरों को भी वह खाद्य खिलाना उचित नहीं है और वैसा करने पर शायद आगे चलकर उन जानवरों का कुछ न कुछ बुरा हो सकता है सोचकर वे गाय नामक मादा पशु से मिला घी नामक द्रव्य कभी-कभी बूढ़े मास्टर साहब के घर भिजवा दिया करते थे।

चेयरमैन के इस कार्य को जो दो-चार लोग अन्याय और घपला मानते थे, लोगों के आगे उनकी जुबान नहीं खुलती थी। क्योंकि वे जानते

थे कि यदि उन्होंने ऐसा किया तो उनके हिस्से की गाँव की चीनी का कोटा, किरासन तेल की डीलरशिप या खुदे हुए तालाब से मिट्टी ढुलाई जैसे कामों में भी अन्याय, घपला साबित करने में चेयरमैन को समय नहीं लगेगा और वे लोग उन्हें ऐसा कोई मौका नहीं देना चाहते थे। जबकि इन मामलों में अन्याय और घपलेबाजी नहीं है, और यदि है भी तो स्कूल के अन्याय और घपलेबाजी से काफी कम है।

स्कूल में जातिप्रथा का प्रचलन नहीं था। और यदि थोड़ा-बहुत था भी तो उसे जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए मास्टर लोग खुद ब्राह्मण होते हुए अछूत बच्चों को बुलाकर पैर दबवाते थे। लड़के इस कार्य को खूब आनंदपूर्वक करते थे, क्योंकि उन्हें मालूम था कि ज्ञान बढ़ाने और मास्टरजी के प्रिय पात्र बने रहने के लिए वही एकमात्र रास्ता है। इसके अलावा कभी-कभार मास्टरजी भले घर के बच्चों से कहा करते थे कि अछूत बच्चों को छूएँ और छू लेने के बाद 'शाबाश' कहकर अपनी-अपनी जगह बैठें। इतना सब कुछ करवाने के बावजूद कभी-कभी उनके मुँह से गुस्से में चमार का बच्चा, भंगी का औलाद जैसे कटु शब्द निकलने पर, मुँह पर नियंत्रण करते हुए उसके बदले 'सरकारी दामाद' कहने की कोशिश करते।

चालीस साल पुराने इस स्कूल से एक भी छात्र जिला छात्रवृत्ति की परीक्षा में पास नहीं हुआ और प्रायः सभी जिले के बड़े स्कूल में जाकर फेल होने जैसे अपराध के लिए मास्टर लोग आधा दोष बच्चों तथा उनके माता-पिता को देते थे। बाकी के आधे का अधिकांश दोष मढ़ दिया जाता स्कूल को लेकर चिंतित पूर्वकथित कुछ बुजुर्गों को छोड़ अन्य ग्रामवासियों पर। इन सबको दोष देने के बाद जो थोड़ा बहुत दोष बच जाता था वह मास्टर लोग अच्छी पढ़ाई पढ़ने के लिए अनुपयुक्त गाँव के बुरे माहौल तथा स्कूल में विद्यमान घटिया किस्म के टेबुल, कुर्सी तथा ब्लैकबोर्ड पर थोप देते थे। इसके बावजूद यदि उन्हें कार्यकारिणी समिति की ओर से स्कूल का स्तर सुधारने के बारे में कहा जाता तो वे लोग हाँ, कोशिश करेंगे कहकर बच्चों को गणित, विज्ञान से लेकर व्यायाम, ड्रिल जैसे हर पीरियड के लिए अलग-अलग कॉपी, किताब, कलम और पेंसिल लेकर रोज स्कूल आने का निर्देश देते और जब तक वे लोग ये चीजें नहीं लाते, तब तक पढ़ाई नहीं होगी जैसी प्रतिज्ञा करते और उस प्रतिज्ञा का पालन भी करते।

स्कूल अब भी चल रहा है। कुछ लोगों के कथनानुसार यह लेबिड़ी स्कूल से अच्छा चल रहा है। गाँव के निचले टोले के लोग हमारे टोले से झगड़ा-झाँसा करके अपने टोले में अलग स्कूल खोल लेने पर भी यह चलता रहेगा और लेबिड़ी का स्कूल टूट जाने पर भी यह चलता रहेगा। हमारा विश्वास है कि जब तक चेयरमैन के पोते-पड़पोते इस स्कूल के चेयरमैन नहीं बनते तब तक यह चलता रहेगा। जब पढ़नेवाला कोई नहीं होगा तब भी यह चलता रहेगा। चलने के सिवाय इस स्कूल से और कोई दूसरा काम नहीं होगा, इसलिए यह चलता रहेगा तथा स्कूल के न चलने से इसे चलानेवाले बाकी के लोगों का काम नहीं चलेगा, इसलिए यह चलता रहेगा।

कैदी एक जेल का

माधो ने एक बार पीछे मुड़कर देखा। कम से कम पचास लोग होंगे फाइल (लाइन) में। खाना उसे न मिला, तो इनको क्या खाक मिलेगा? अकेले उसे न मिलता तो हो सकता है लोग कुछ न कहते! इतने सारे कैदियों को जब नहीं मिलेगा तो क्या कोई चुप रहेगा? हल्ला मच जाएगा! जेलर साहब भी अपनी ओर से जरूर कुछ न कुछ इंतजाम करेंगे। इतने लोगों को थोड़े ही भूखे रहने देंगे।

माधो ने सामने देखा। लगभग दो सौ आसामी होंगे लाइन में। सौ से ज्यादा तो खाना भी ले चुके हैं। एक बार बाल्टी भरकर आता है तो दस-पंद्रह से ज्यादा लोगों को नहीं मिलता। साला कीर्तनिया ज्यादा-ज्यादा तो नहीं उड़ेल रहा है थालियों में? किसी को कम मिलने पर तो हल्ला मच जाता है लेकिन ज्यादा गिर जाए तो कभी कोई मना करेगा भला!

काश माधो की थाली में दस पूड़ियाँ गिर जातीं! गलती से गिरतीं-गिरतीं। माधो एकदम से दो पूड़ियाँ निगल लेता। कहता जूठी हो गईं। आगे बढ़ो। अच्छा छोटेलाल सुना है, तुझे खीर देखते ही उल्टी आती है। तू मेरे को दे देना। माधो ने अपने पीछे खड़े हुए छोटेलाल से मजाक करते हुए कहा। सोचा कहीं उसे सचमुच खीर अच्छी न लगती हो तो उसका हिस्सा और किसी के हथियाने से पहले उसको मिल जाएगा।

"साले, तुझे शर्म नहीं आती? पिछले झंडा उड़ाने के दिन से एक बार भी मैंने खीर चखी तक नहीं। अच्छे-बुरे का कुश्चिन (प्रश्न) कहाँ से आया?" अपने मुँह का लाल (पानी) निगलते हुए छोटेलाल ने जवाब दिया।

"साल में दो ही दिन तो झंडा उड़ाने और जेल के कैदियों को सेसाल (स्पेशल) खाना और उसमें भी किसी को खीर क्या कड़वी लगेगी?" पीछे मुड़कर सनातन मिंज ने कहा और फिर आगे ताकता रहा।

"कितना ठो पेड़ा मिल रहा है आज?" हीरा ने पूछा। वह छोटेलाल के पीछे खड़ा था।

"क्यूँ? तीन से ज्यादा मिलने पर तू लौटा देगा क्या?" माधो को फिर मजाक सूझा।

"नहीं यार, मेहेर बार्डर से दो कठा (बंडल) बीड़ी ली है मैंने। कहता है चार ठो पेड़ा लेगा। तीन हफ्ते से मांस नहीं खाया मैंने। बदले में मिलनेवाला पेड़ा उसी को दे रहा हूँ। कभी चुकता ही नहीं हो पाता है।" हीरा ने जवाब दिया।

"क्यों? पूरे जेल में एक कठा बीड़ी का दाम पाँच ठो पेड़ा तय हुआ है। तेरे से क्यूँ मेहेर बार्डर छह पेड़ा ले रहा है? साले तुम्हारे जैसे 'बिक्लासियों' (जेल में नीचे दरजेवाले कैदियों की एक तरह की गाली) के चलते जेल में हर चीज का रेट बढ़ जाता है।" मेहेर बार्डर से अधिक हीरा पर छोटेलाल को गुस्सा आ रहा था।

"अरे, सागर कंपनी की बीड़ी है भाई।" हीरा ने अपने आप को बचाते हुए कहा।

"पूरे हफ्ते में एक इतवार यानी एक 'सेसाल' खाना और उसमें मांस के बदले तीन पेड़ा। उसमें एक 'कठा' बीड़ी भी नहीं मिलती है। इसलिए मैं जेल में जब तक रहता हूँ, नशा-पानी से दूर रहता हूँ।" आगे से लबारू ने माधो और हीरा को समझाने के अंदाज में कहा।

इस बीच माधो और हीरा अपनी-अपनी जगह से थोड़ा-थोड़ा आगे पीछे हो लिए और इससे छोटेलाल को मिलाकर तीनों में एक छोटी सी मंडली सी बन गई थी। आगे सनातन मिंज था। इनकी बातों में उसे कोई दिलचस्पी न थी। उसका पूरा ध्यान आग्रे की ओर था। हीरा के पीछे था हाडुसुना। पहली बार जेल आया है, थोड़ा पगला गया है। किसी से ज्यादा बातचीत नहीं होती उसकी। इनकी बातों को सुन रहा था या पता नहीं, पर बीच-बीच में हँसता रहता था, मानो इनकी बातों पर हँस रहा है।

"देखना, हम तक 'फाइल' (खाना) पहुँचेगी ही नहीं और किसी तरह पहुँच भी जाएगी, तो देखना पूड़ी सारी टूटी हुई होंगी, या फिर खीर नहीं होगी।" माधो ने जेल में फाइल के नाम से परिचित लंबी कतार और आ रहा फाइल यानी खाना की ओर देखकर निराशा से कहा।

छोटेलाल ने कहा, "माधो तू भी न कभी-कभी बेवकूफ जैसी बात करता है। शतपथी जेलर अच्छा आदमी है। किसी को भूखे सोने नहीं देगा। सबको भर पेट पूड़ी और खीर खिलाकर ही छोड़ेगा।"

"साले, पगला गया है क्या तू? जेलर में भी कोई अच्छा या बुरा होता

है क्या? जेलर केवल जेलर होता है। पिछले झंडा उड़ाने के दिन मधु कुंभार को खीर नहीं मिली थी। जेलर बूढ़े ने कहा, बाद में मिलेगी। तबसे अभी तक मधु इंतजार में है। देखना, आज भी उसे डबल खीर नहीं मिलनेवाली है।"

माधो ने जेलर के नाम पर उलटा-सीधा कह तो दिया पर अब उसे डर लगने लगा। कैदियों में जेलर के जासूस होते हैं। खुद बहुत बड़ा कोई दादा तो है नहीं कि उससे जेलर डर जाएगा।

"मुझे भी पता था खाना ऐसा ही होगा पर सोचा पैखाना हो आने से खाना खाना ठीक रहेगा। आया तो इतनी लंबी लाईन।" हीरा ने कहा।

"मेरा तो भाई क्या बताऊँ। जलभरी ड्यूटी। वह भी साहू साहब के घर पर साली बच्चों की ट्टी साफ करवाती है।" कहकर माधो अपने दाहिने हाथ को सूँघने लगा।

"मेरा भाई मत पूछो। दुखु पागल की सेल में पूरा दिन कटा। अरे मैं तो भूल गया था, माधो तुझे पता है दुखु पागल को जेलवालों ने पीट-पीटकर मार डाला।" छोटे ने कहा।

"कब?" हीरा ने पूछा।

"दोपहर को। हग-मूतकर नानाखान कर रखा था। मेरे को बुलाए थे पानी डालकर साफ करने के लिए। देखा तो बेचारा अधमरा होकर पड़ा है। मार इतनी पड़ी है कि हग-मूत दिया है। कल रातभर साले ने सोने तक नहीं दिया। सेल के अंदर से सबको गाली देता रहा। एस.पी, डी.एस.पी., मंत्री, मजिस्ट्रेट, पूरी दुनिया को।" याद करते ही माधो जम्हाई लेने लगा।

छोटे ने कहा, "क्यों गाली नहीं देगा बोलो? मैं उसे पहले से जानता हूँ। पान की दुकान की थी। अच्छी चलती थी। बीवी सुंदर थी। वही असल में उसका दोष था।

–छोड़ो-छोड़ो इन लोगों की बातें। सारे बड़े-बड़े चोर, डाकू, रेपिस (रेपिस्ट) हम जैसे छोटे चोरों के ऊपर एस.पी, डी.एस.पी, मजिस्ट्रेट बने हुए हैं। मन करता है इनके मुँह पर हग दूँ। उस दिन माझी खड़ा था दुखु के दुकान के पास। चाँद इनिस्पेक्टर गाड़ी से उतरा और दुखु से कहा, "चलो मोटर एक्सिडेन्ट की गवाही दो।"

हीरा की बातें खतम होने से पहले माधो ने पूछा, "कौन सा एकसिडेंट?"

अरे कहाँ का एकसिडेंट? बीवी सुंदर और आदमी देसी टाइप हो और गलती से वह कमाने खाने शहर पहुँच गया हो न, बार-बार थाने-दफ्तर से बुलावा आता रहता है। मेरी माँ कहती थी, बहुत सुंदर बीवी से शादी मत करना बेटा। बेमतलब की आफत आ जाती है।

"इसलिए तूने वैसी बीवी से शादी की है?" छोटेलाल ने मजाक करते हुए कहा।

"क्यों? मेरी बीवी सुंदर नहीं है?"

"वह तो तू कह रहा है। एक बार चांद इनिस्पेक्टर को तो कहने दे।"

"तुम लोगों को यार, खाली मजाक सूझता है मेरे को डर है कहीं दुखु की सेल में मरने की बात कहीं रामू सरदार तक न पहुंच गई हो।" माधो ने कहा।

"खबर तो पहुँचेगी ही। पर सफाई के लिए मैं अकेले सेल में था। अभी-अभी की तो बात है। वहाँ से आया और फाइल में लगा हूँ।" छोटे ने कहा।

-हीरा ने प्रस्ताव दिया, "खबर कर दें क्या?"

माधो बोलता है, "मरोगे क्या? पूरे साल भर में दो ही दिन तो झंडा उड़ाने के दिन होते हैं। इस दिन भी तो भूख हड़ताल कराओगे?"

"जेलवाले भी बहुत हरामी हैं। झंडा उड़ाने के दिन ही उसे मारना था। हम कम से कम भर पेट खा तो लेते।" छोटे ने कहा।

"अरे, हमें खाने को नहीं मिलता है, इसलिए झंडा उड़ाने के दिन का इंतजार रहता है। इन राक्षसों का क्या जाता है। उस दिन मगशीर (मार्गशीष महीना) का गुरुवार था। अपने गरस्त (स्वामी) के सामने औरत पर चढ़ गए। मानो महाभारत हो। बेचारा दुखु थानाबाबू से बदला न ले पाया, इसलिए पगला गया।" हीरा कहता है।

"समझे, माधो, हम लोग बड़े-बड़े दादा होते न, तब बात बनती। टटपुँजिया बिक्लासी चोर। किसी की क्या मदद करेगा। कोई भी आकर धमकाकर चला जाता है। नहीं तो मैं जाकर उन दिनों दुखु की मदद कर आया होता।" छोटे ने कहा।

"रामू सरदार के पास खबर न पहुँच गई हो?" माधो ने अपनी बातों को दोहराया।

"खबर पहुँचे। क्यों नहीं? बिना किसी गुनाह के एक आदमी को इन्होंने मार डाला। इसका कोई प्रतिकार नहीं होगा?" हीरा ने कहा।

हीरा की बातों को काटते हुए माधो कहता है, "मैंने कब मना किया?

पर साल में दो ही दिन झंडा उड़ाने का पर्व। इस दो दिन ही पेटभर खाने को मिलता है। आज एक दिन ठीक से खाने दो। कल से जितने दिन कहोगे भूख हड़ताल में बैठ जाऊँगा।"

कुछ देर तक तीनो चुप रहे। फिर सबसे पहले छोटे ने मुँह खोला, "इस भूख हड़ताल में क्या रखा है बोलो तो? बेकार में अपने को कष्ट देनेवाली बात। जेल के अंदर मैं पाँच-छह बार भूख हड़ताल में बैठ चुका हूँ। भूखे पेट रहने के अलावा कुछ भी होता है क्या इसमें? दुखु के संग हम भी मरें क्या? जब भी हड़ताल हुई है, देखे हो कभी सरकार को बात मानते हुए? करना है तो ठीक से करो। जेलर को पकड़कर मारो। संट्री से बंदूक छीन लो। एसपी, डी.एस.पी, कोटबाबू, मंत्री, मजिस्ट्रेट सबको कान पकड़कर उठ-बैठ कराओ। कोर्ट में जाकर खुद जज बन जाओ और भूख हड़ताल! डरपोक लोगों की बुद्धि है यह। खाली खानापूर्ति के अलावा और कुछ नहीं है इसमें।"

"एक बार झंडा उड़ाने के दिन निधि तेली ने आखिर में खाया। हीरा, तुझे पता है, उसे कितनी पूड़ी मिली थी, पूरी तेरह ठो।" इतना कहने के बाद माधो पीछे मुड़कर देखने लगा। अबकी बार फाइल में सबसे पीछे कौन खड़ा है।

"पूरा खा पाया या किसी को कुछ दिया?" हीरा ने पूछा।

"सुबह के लिए कंबल के नीचे तीन पूड़ी रखी थी। मकरम ने हड़प ली।"

"साला, यह मकरम बिक्लासियों में भी बिक्लासी है। उस दिन मैंने जेलर साहब के घर से बर्तन साफ करते हुए, थोड़ा सा अचार हथिया लिया था। फाइल हाथ में लिए ढूँढ़ रहा हूँ। पर कहाँ? तब भिखारी ने बताया, आज मकरम ने उसे थोड़ा सा अचार दिलाया था। कहता है, पूछो मत, कहाँ से मिला। खाओ। एक दिन उसे मैं मार दूँगा, देखना, रामू सरदार से भी कह दिया है मैंने।

"दुखु को मिट्टी दे चुके (दफना चुके) हैं क्या?" माधो ने पूछा।

"मिट्टी दिलाने और कब लिए? अब तो छुपा के रखे हुए हैं, ताकि हल्ला न हो। एक बार झंडा उड़ानेवाला खाना खतम हो जाए, उसके बाद सारी कारवाई होगी।"

तब तो आज दुखु के हिस्से का फाइल कीर्तनिया को मिलेगा। यार उसके मजे हैं। सोचते ही माधो के मुँह से जैसे पानी आ गया।

हीरा ने प्रस्ताव रखा,"समझे, अगली बार मैं मेस कमिटी में जाऊँगा।

ज्यादा काम है, पर खाना तो मिलेगा। कुछ नहीं तो रोज खाने में प्याज और टमाटर ले लो।"

माधो ने पूछा, "और कितने बचे, गिनो। एक...दो...ती....बीस।"

पीछे से हीरा कहता है, "मेरे लिए बाइस। फाइल अबकी बार तुम दोनों को भाई मिल जाएगा। मैं चूका।"

"अरे, वह देखो, रामू सरदार आ रहा है।" सनातन मिंज ने कहा। मानो अब तक इनकी बातें ध्यान से सुन रहा था वह। अब जैसे चिढ़ाने के लिए बोल रहा हो। पर जब माधो, हीरा और छोटेलाल ने देखा, रामू सरदार सचमुच आ रहा था।

घबराते हुए माधो ने कहा, "क्या कह रहा है? खाना फेंक दो। ओ मेरी माँ समलाई (एक आराध्य देवी) तुझे एक जोड़ा बकरी दूँगा, माँ। रामू सरदार को वहीं रोक दे। यहाँ आने मत देना। आज के दिन कम से कम ठीक से खाने दे। माधो अपने बाएँ हाथ की थाली और दाहिने हाथ की कटोरी को ऊपर उठाया, समलाई देवी को विनती की।

खाना तो शायद हर कोई चाह रहा था और क्यों नहीं। झंडा उड़ाने का खाना न होता तो शायद कोई परवाह भी न करता पर माधो की भूख मानो छुपाए न छिप रही थी। हैं तो यह सारे बिक्लासी यानी आम किसम के चोर, जिनकी जेल के अंदर भी कोई इज्जत नहीं होती। हत्या और डकैती जैसे संगीन मामलों में रहे कैदियों के आगे इनकी क्या औकात। पर इन सबसे माधो और भी अलग है। मानो, बचपन से जेल ही जीवन है। घर, परिवार, सब यहीं। चार-छह महीने के बाद जब कभी जेल से छूटता है तो, बार्डर, जेलर लोग पूछते हैं, "माधो फिर कब आओगे?" बहुत सहज भाव से वह जवाब देता है, "चलो, बीस-बाईस दिन के बाद आता हूँ। कई बार अपने कहे के अनुसार, सचमुच वह लौट भी आता है। कहते हैं उसके लिए बाहर से अंदर अच्छा है। इसलिए तो कई बार वह खुद थाने के आगे चक्कर काटता रहता है। जब किसी केस में पुलिस को सुराग नहीं लगता और उसे पुलिस की नाकाम समझी जाती है, तब माधो और माधो जैसे बिक्लासियों को ही पकड़ लिया जाता है। उसमें सब खुश– माधो, पुलिस और लोग। खैर, जैसा भी हो, माधो भूख सहन कर नहीं पाता और झंडा उड़ानेवाला स्पेशल मौज के लिए तो मानो वह यहाँ आया है। इसलिए तो वह कभी नहीं चाहता कि आज के दिन भूख हड़ताल हो।

अब फाइल परोसनेवाला कीर्तनिया को माधो गाली बक रहा था।

साले, बुढ़िया का बच्चा। जल्दी-जल्दी क्यूँ नहीं डालता?

"तुझे तो अब मिल जाएगा, माधो। हम चूक गए।" हीरा ने कहा।

अब माधो तक फाइल पहुँच चुकी थी। माधो के थाल में परोसने से पहले कीर्तनिया ने कमर सीधी की। माधो कहता है, "जब मेरी बारी आई, तेरे को रुकने को था। पिछले बार भी तूने ऐसा किया था। क्या दुश्मनी है मेरे से?" सुकर है कि कीर्तनिया माधो की बातों पर केवल हँस दिया। उसने माधो की थाली में अंततः फाइल डाल दी छह पूड़ी, खीर, घीवाला चावल, टमाटर की चटनी, मांस...!

रामू सरदार अब पहुँच चुका था। कैदियों को संबोधित करते हुए कहा, "भाइयो, जेल स्टाफ ने पीट-पीटकर दुखु को आज मार डाला है। जेलर को सजा दिलाने के लिए हम लोग भूख हड़ताल करेंगे। आप लोग खाना फेंक दीजिए।"

रामू की बातों को सब लोगों ने सुना। हल्ला मचाया। खाना भी फेंक दिया। पर माधो ने जैसे कुछ सुना ही नहीं। मुँह नीचे करके वह खाने में लगा था। रामू आया, माधो की थाली को छीनने लगा। परंतु माधो भी कहाँ छोड़नेवाला है। बस वह तो खाता ही चला जा रहा था। दो पूड़ी उसने मुँह एक साथ डाल रखी थी। इसलिए बात भी न निकलती थी।

रामू ने कहा, "माधो, तू आदमी है या जानवर? अपने एक कैदी भाई को इन राक्षसों ने पीट-पीटकर मार डाला है और तुझे खाने की पड़ी है। दे, फेंक दे। सब लोगों ने फेंक दिया है, माधो, ए माधो!"

माधो ने तो मानो कुछ सुना ही नहीं है। उसका ध्यान थाली में बची हुई खीर पर टिका हुआ था।

सारे कैदी उसे ही देख रहे थे। अंत में मुँह ऊपर करके वह बोलता है, "रामू तेरे माँ-बाप को मेरे हजार जोहार। और दो पूड़ी रह गई है। बस इन्हें खतम करने दे। उसके बाद तुम जितने दिन कहोगे, भूख हड़ताल पर बैठ जाऊँगा। जो कहोगे करूँगा। जिसे कहोगे मार डालूँगा। बस आज ही के दिन पेट भर खाने दे।"

जेल के फाटक से घंटा पीटने की आवाज आई। ढन...ढन...ढन। छह बार। यह कैदियों के अंदर होने का समय। शाम के छह बज चुके हैं। अंदर यानी अपने-अपने वार्ड के अंदर जाएँगे। ताला लगेगा। रात भर! कल सुबह छह बजे तक।



ओड़िया कथाकार प्रीतीश आचार्य की कहानियों में ओड़िया जीवन और समाज का अपनी खुसूसियत के साथ मौजूद होना लाजिम है। लेकिन उनकी कहानियों में जिस मध्यवर्ग से हमारा परिचय होता है वह किसी एक भाषा-समाज में बँधे होने के बजाय वृहत्तर भारतीय मध्यवर्ग का अंग है और अपनी वासना, क्षुद्रता, कुंठा के साथ समस्त आचार-विचार में समानधर्मा है।

इस कथा-संसार में कुछ निराले चरित्र हैं जिन्हें हमारी सफलताकामी दृष्टि तुच्छ और हेय मानती है लेकिन जिनका वजूद बेरंग होती दुनिया में कुछ रंग भरता है। इन कहानियों के जरिए दारिद्र का जो रूप हमारे सामने प्रकट होता है उसके पीछे लिजलिजी भावुकता और दया-भाववाली लेखकीय निगाह नहीं बल्कि यह जानना है कि वहाँ जीवन का मतलब यंत्रणा निगलते जाना है। यह सब सुनाते-बताते हुए कथाकार लगातार अपने को कठघरे में रखता, खुद का मजाक उड़ाता, अपने आत्म की परीक्षा करता चलता है जिस परीक्षा में पास-फेल का प्रावधान नहीं, उसमें से गुजरना ही महती होता है।



100.00 रुपए

रोशनाई प्रकाशन

काँचरापाड़ा, पश्चिम बंगाल

ISBN : 978-81-88742-31-8